

# आत्मदीप

विमला ठकार

99



आत्मदीप



# आत्मदीप

---

सात प्रवचन और पांच प्रश्नोत्तरियों का संकलन

विमला ठकार

दी न्यू ऑर्डर बुक कम्पनी  
एलिस ब्रिज, अहमदाबाद-६

उनकी घबि कम है । भोन की तो बात करती हैं न ? फिर भी जीवन-साधकों के साथ षोड़ी बात कर लेती हैं । वैसे कुछ वार्तालाप और प्रश्नोत्तर इस पुस्तक में संगृहीत हुए हैं । भाषा प्राञ्जल और सरल है । वाक्य विज्ञकुन छोटे-छोटे हैं । बोलचाल की लय पढ़ने में भी सुनाई देती है । उसमें मनुष्य को पूर्यतया जीने के लिए जाग्रत् करने की एक आरजू महसूस होती है । विमला बहिन की विनोदवृत्ति विषय की गम्भीरता से दब नहीं पाती । अहमदाबाद में दिसम्बर '६६ में तीन प्रवचन, अपंग-मानव-मंडल का तया मकान तैयार हो रहा था उसमें, दिए गए । यह बात बहिन के रूपाल से बाहर न थी । अन्तिम दिन के प्रवचन में इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि सारा विश्व एक अपंग-मानव-मंडल है । क्या अपंगता है हर मनुष्य की ? समग्रता से जीना नहीं हो पाना वह है अपंगता । 'किसी क्षण के साथ...पूरे का पूरा जीना नहीं हो पाता ।' पूरा जीना, यह तो है क्षण को शाश्वतता से अंकित करना ।

२२-१२-१९७०

नई दिल्ली

— उमाशंकर जोशी

उपकुलपति, गुजरात विश्वविद्यालय

## विषय-क्रम

### ग्रहमवाबाव, ध्यान-शिखिर

प्रथम प्रवचन : ११

मिलन क्या है ? ११; ध्यान एक अवस्था है १३; जीवन है क्या ? १५; हेतु की पहचान १७; मन-बुद्धि की मर्यादा २१; अपूर्व घटना २३; ऊर्जा की समग्रता २४; प्रश्न और उत्तर २५

प्रथम प्रश्नोत्तरी : २७

प्राप्ति और उपलब्धि २८; पावक तत्त्व ३०; व्यक्ति और समष्टि ३३; यह सब किसने बनाया ? ३६; स्व-परिचय कैसे करें ? ३८; क्रिया और कर्म ३९; समाधि क्या है ? ४१; जप का महत्त्व ४२; मोन क्या है ? ४४; अवलोकन का आलोक ४५

द्वितीय प्रवचन : ४७

मानव-चित्त ४७; हम अपंग हैं ४९; ध्यानावस्था की उपलब्धि ५१; विचार और प्रतिक्रिया ५३; एक भ्रम ५५; चित्त की स्वस्वता ५६; जीवन की नग्नता ५७; अहंता की व्याधि ५९

द्वितीय प्रश्नोत्तरी : ६२

महत्त्वाकांक्षा क्या है ? ६२; धर्म-ग्रंथों का महत्त्व ६४; शांति कैसे मिले ६६; मन की मुक्ति ७०; संस्कार क्या है ? ७०; ईश्वरेच्छा का अर्थ ७४; आकलन क्या है ? ७७; बालक और ध्यान ७८; मोन की प्रतिष्ठा ८०; अनुभूति की प्राय ८१



### तृतीय प्रवचन : ८५

प्रेम पुरुषार्थजन्य नहीं है ८५; इन्द्रियजन्य उत्तेजना ८६; बड़ी रेखा ८८; जीवन का धर्म ९०; परिवर्तन की गति ९२; अपंग मानव-मंडल ९४; ग्रहम् अस्मि ९५; अध्यात्म का सार ९७; गुलामी से मुक्ति ९८; निषेध नहीं सावधानी १००

### तृतीय प्रश्नोत्तरी : १०३

मौन का द्रष्टा १०३; जीवन और प्रारब्ध १०६; मौन का भय १०८; शिक्षण का मर्म १११; परीक्षा-पद्धति ११५; भारत की गरीबी ११६

### विहार सरोवर, बम्बई; सहजीवन-शिविर

#### प्रथम प्रवचन : १२३

जीने की अभिमुखता १२३; सहज संवाद १२५; जीवन-पद्धति की त्रुटि १२७; गंभीर समस्या १२८; हमारी भूल १३०; भावना की मर्यादा १३१; जीवन क्या है ? १३३

#### प्रथम प्रश्नोत्तरी : १३५

मन और चेतना १३५; समग्रता का जीवन १३८; अलंछ काल १४०; जीवन उधार नहीं मिलता १४४; विवेक क्या है ? १४५; सहज और स्वाभाविक १४७; समग्रता से देखना क्या है ? १४९; मन का मोन १५२; हिंसा और अहिंसा १५४; मौन कैसे करें ? १५६

#### द्वितीय प्रवचन : १५९

ध्यान क्या है ? १५९; ध्यान चेतना की अवस्था है १६१; अपनी पहचान १६३; आत्म-निर्भरता १६४; दृष्टि का प्रालोक १६५; ध्यान कर्म का विषय नहीं १६६

## द्वितीय प्रश्नोत्तरी : १६६

जीवन का वैविध्य १६६; ध्यान और मौन १७३; अनुभूति और प्रत्यय १७४; ध्यान का समय १७५; सहजता का जीवन १७६; कच्चा आदमी १७८; अपना परिचय १७९; मन और बुद्धि अलग नहीं १८०; मृत्यु का भय १८२

## तृतीय प्रवचन : १८४

आत्मा की एकता १८४; विभाजित जीवन १८५; जीवन की कुंजी १८७; अध्यात्म है क्या ? १८९; सहजता भीतर है १८९; प्रेम की धार १९१; जीवन की सरलता १९३; स्वाधीनता अंदर है १९५; प्रत्यक्ष की मुरझा १९५; जीवन-विमुक्तता अध्यात्म नहीं १९६

## चतुर्थ प्रवचन : १९९

सख्य का आनन्द १९९; शिष्य और गुरु २००; आत्मा का स्वभाव २०१; गुरु का समागम २०२; बहती गंगा २०४; अध्यात्म आंतर यात्रा है २०४; संकेत और निर्देश २०५; मार्ग भीतर है २०७; मख्य की प्रतिष्ठा २०८



१

स्थान

अहमदाबाद

२१-१२-६६ से २३-१२-६६ तक

ध्यान-शिविर

जाती है, वे ही परस्पर मिलन के लिए अनुकूल बन सकते हैं।

शब्द को सतह पर मिलन संभव नहीं है। वहां संपर्क स्थापित हो सकता है। संरक्त संबंध नहीं है। संरक्त मिलन नहीं है। शब्द में व्यक्ति के प्रांशिक दर्शन होते हैं। सुनने वाला भी शब्द का अंश ही ग्रहण करता है। अर्थ का अंश ग्रहण करता है। तो, अंशों के संपर्कों में से संपूर्ण का मिलन कैसे उपलब्ध होगा ?

उसमें भी वैखरी वाणी का जो शब्द है, वह बड़ा स्थूल है। बड़ा सीमित है। समग्रता के स्पर्श से वह शब्द टूट जाता है। उसमें दरारें पड़ने लगती हैं। उसकी काया ऐसी नहीं है कि समग्रता के स्पन्दन को सह सके। विषय-विषयी के संबंध में जो क्रिया और प्रतिक्रिया का खेल चलता है, उसका अपत्य है वैखरी का शब्द। वह क्रिया-प्रतिक्रिया वैचारिक है या वैकारिक है, यह गौण है। लेकिन वैखरी वाणी का शब्द प्रवृत्त तक ले नहीं जा सकता। निरुद्ध को सुगन्ध को ला नहीं सकता है, सुनने वाले तक। वैखरी का शब्द बड़ा मोटा, बड़ा स्थूल, सीमित है।

पश्यन्ती का शब्द अनुभूति में भोगकर, नहाकर, आता है। अनुभूति के रस से रसित है। प्रक्षालित है। लेकिन मध्यमा उसको वहन करके वैखरी तक लाए, उससे पहले ही अनुभूति का रस जो है, वह वहन की प्रक्रिया में आघात हो जाता है। इसलिए पश्यन्ती का शब्द वैखरी के उन्मुख नहीं, परा के उन्मुख है।

परावाणी वह तत्त्व है जहां शब्दों के परिधान सहज नहीं होते हैं, जहां मोन के वस्त्र ही अनुकूल पड़ते हैं। परावाणी मोन के पारदर्शी, नितान्त सूक्ष्म परिधान ही पहनती है। लेकिन वहां पहुंचकर कोई स्थिर हों, बंठें, सुनें, ऐसी आशा रखना भी तो मुश्किल है।

तो, आपके साथ जो दो-तीन दिन संवाद होगा, वह वैखरी में होगा। वैखरी वाणी के द्वारा अधिक से अधिक संवाद का पुरुषार्थ कर सकते हैं। ये व्याख्यान नहीं हैं। प्रवचन भी नहीं हैं। यहां बुद्धिरंजन या मनोरंजन की अभिसंधि नहीं है। जीवन-प्रेमी रसिकों के साथ सुख-संवाद है। अब हमारे लिए मनोरंजन या बुद्धिरंजन के लिए वाणी का विनियोग संभव नहीं रहा है। तो, संवाद होगा। प्रतिपादन करने नहीं, आपके मनोरंजन

के लिए नहीं; प्रापकी बुद्धि में कोई नये विचारों को उत्तेजना पैदा करने के लिए नहीं, शब्द-भेद करके प्राप और हम मीन की अवस्था में जा सकें, परस्पर-मिलन के अधिकारी बन सकें, इसके लिए यह दो-तीन दिन का मित्र-मिलन है। परिस्थिति विषम नहीं होती तो सौ-पचास व्यक्ति हम लोग एक साथ रहते। साथ खाते-पीते। शायद प्रहमदावाद में नहीं, और किसी एकान्त स्थल में रहे होते। लेकिन ईश्वरेच्छा बलीयसी।

### ध्यान एक अवस्था है

ध्यान कोई क्रिया नहीं है। ध्यान का कोई शास्त्र नहीं है। ध्यान है एक अवस्था, जिसमें जिया जा सकता है। समग्र जीवन के प्रति एक नयी दृष्टि, एक नयी चेतना, जो व्यक्ति के ग्रन्थन्तर को बदल देती है। तो, यहां ध्यान कैसे किया जाए, कैसे बैठा जाए, श्वास कैसे लें, कैसे न लें,—इन सब बातों की चर्चा नहीं होगी। पता नहीं कैसे संसार के सभी देशों में एक बड़ा भारी भ्रम दृढ़ हो गया है कि ध्यान कोई क्रिया है जो सीखी जा सकती है। ध्यान क्या कोई शास्त्र है, विज्ञान है, कोई प्रक्रिया है कि उसका कहीं प्रारम्भ हो और कहीं जाकर उसका अन्त हो? ध्यानावस्था तो विन्दु के जैसी है, जिस विन्दु में प्रारम्भ ही अन्त है। लम्बाई ही चौड़ाई है। और पहले कदम में ही यात्रा की फलश्रुति है। प्राप जानते होंगे भूमितिशास्त्र की विन्दु की व्याख्या। यात्रा के लिए जहां प्रवकाश नहीं है। उन्मुख होना ही जहां फलश्रुति बन जाता है। पता नहीं क्यों और कैसे, ध्यान के बारे में एक भ्रम है।

पहला पुरुषार्थ तो यह करना पड़ता है कि चित्त को निर्भ्रम बनाएं। भ्रान्त चित्त में यथार्थ दर्शन की शक्ति कहां से प्राएगी? चित्त की भ्रान्तियां धो देनी पड़ती हैं। बुद्धि का उपयोग इसीलिए है कि चित्त निर्भ्रान्त बने। तथ्य के दर्शन बुद्धि नहीं कराती। वह बुद्धि के पुरुषार्थ का विषय नहीं है। लेकिन चित्त को निर्भ्रान्त बनाना, भ्रम के, भ्रान्ति के, यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित करना, बुद्धि का काम है। तो इस भ्रम को धो देना चाहिए कि ध्यान कोई क्रिया है। कहीं शांत स्थान में बैठ गए, एकान्त में बैठ गए, कोई आसन लगाकर बैठ गए—यह तो इतना

ही असंगत है ध्यान की अवस्था से, जैसे कि कोई राजमहल में है या कोई झोंपड़ी में है, किसीके पास पकवान हैं या सादा भन्न है,— इसका संतोष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सन्तोष की उपलब्धि का सम्बन्ध कहीं और है। उसी प्रकार ध्यान की अवस्था का सम्बन्ध कहीं और है। यह सब गौण है, एक हद तक असंगत भी है।

तो, चित्त को निर्भ्रान्त बनाने का पुरुषार्थ करें। कोई इसको साधना कहता है। कोई इसको शिक्षण कहता है। नाम चाहे जो दीजिए, लेकिन निर्भ्रान्त होना आवश्यक है। हमें यह भ्रम है कि हम अपने-आपको जानते हैं। इस भ्रम के आधार पर ही न जाने जीवन में कितने काण्ड घटित हो जाते हैं। जीवन के कितने तनाव, कितने दुराव, कितनी हिंसा, कितना आक्रमण इस भ्रम में से पैदा होते हैं कि हम अपने-आपको जानते हैं। जिस प्रकार आत्म-अपरिचय अनर्थ कराता है, उसी प्रकार ध्यान के बारे में भ्रम हो तो सारा जीवन अनर्थमय हो जाता है। धनपों की परम्परा, खुल्ला बनती जाती है जो तोड़ी नहीं जाती; एक दुष्ट-चक्र बनता है।

ध्यान का किसी भी प्रकार की किसी भी क्रिया से कोई संबन्ध नहीं। क्रिया इंद्रिय और मन का घमं है—क्रिया का विषयों से सम्बन्ध होना, उसकी प्रतिक्रिया चित्त में उठना, और चित्त का क्रियाशील बन जाना। फिर वह क्रिया आप भौतिक क्षेत्र में करते हैं, इंद्रियों के सुख के लिए करते हैं, बुद्धि के सुख के लिए करते हैं, भावना के विलास के लिए करते हैं, या और किसी हेतु से करते हैं—यह सब गौण है। लेकिन वे सब हैं क्रियाएं ही। और, सब क्रियाओं के शान्त होने में ध्यान का अरुणोदय है। क्रिया को, क्रियाशीलता को, जीवन की गति को समझने की हमें आदत हो गई है। फूल देखा। सुगन्ध आई। चित्त में आह्लाद हुआ। तरंग उठा कि इस प्रकार की सुगन्ध हर रोज मिले। इस तरंग के उठने को जो जीवन की गति समझते हैं, वे बड़े घोषे में हैं। किसीको देखा, लंबा कद देखा, छोटा कद देखा, वर्ण देखा, गौर देखा, कृष्ण देखा, नाक-नक्शा देखे, घञ्छे देखे, ऐसे भी देखे जो नहीं भाते हैं, तो चित्त में जो प्रतिक्रियाएं उठती हैं, विचारों की या भावनाओं की, उन्हें लोग जीवन की गति सम-

भते हैं। और ये न हों तो घबरा उठते हैं कि चित्त में गति न हो, कोई विचार न उठे, कोई भावना न उठे, तो फिर क्या होगा? क्या जीना ससाप्त नहीं हो जाएगा? शून्यावस्था नहीं होगी, मानसिक बधिरता नहीं आएगी? क्या होगा? यानी, इंद्रिय-विषय-सम्बन्ध में से उठनेवाली सहज स्वाभाविक या प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं को हम मानवोचित व्यवहार समझ बैठे हैं। यह मानवीय जीवन की गति नहीं है, यह ससम्भना पड़ेगा। यह प्रतिक्रिया है।

### जीवन है क्या ?

एक-दो शतक हो गए हैं, सारी मानव-जाति इस भ्रम में है कि मन को और बुद्धि को चलाना ही जीना है। और विचारों को सूक्ष्मतर बनाना, स्मृति को समृद्ध बनाना, ऐश्वर्यशालिनी बनाना, प्रतिक्रियाओं के अलग-अलग प्रकार के ढांचे बनाते चले जाना—इस सबको जीवन माना गया। और विभिन्न देशों में, विभिन्न लोगों ने, बड़े सुन्दर-सुन्दर नमूने बनाए। जिन्हें शारीरिक और मानसिक व्यवहार की पद्धतियां कह सकते हैं। ये सब तो बना लिए और उन सबकी चीखें भी बना दीं। शब्दों के अर्थ पक्के कर लिए। शब्दों के सहचारी भाव पक्के कर लिए। और समझने लगी मानव-जाति, कि मन और बुद्धि के द्वारा जो व्यवहार होता है, वही जीवन है।

उसमें दिक्कत यह है कि मन और बुद्धि व्यवहार के लिए कुछ प्रतीक चाहते हैं—जैसे आपकी अर्थ-पद्धति में चलन-व्यवस्था है न? उसकी मारफत आप लेन-देन करते हैं। उसी तरह मन और बुद्धि की सतह पर जो लेन-देन होती है, वह शब्दों की मारफत होती है। यह चलन चल पड़ता है। और, शब्द तो प्रतीक हैं। शब्दों की कोई अपनी सत्ता नहीं है। वे केवल प्रतीक हैं। उन प्रतीकों को सजाने में, संवारने में शतक केश तक बीते जा रहे हैं। ये जो व्यवहार की पद्धतियां हैं, इन पद्धतियों में से संघर्ष उठते हैं, तनाव आते हैं, फिर उनमें समझौता कर लेते हैं, सुधार कर लेते हैं, इधर-उधर जोड़-तोड़ कर लेते हैं और मानते हैं कि मानव-जाति आगे बढ़ रही है।



मानव का जन्म ही भ्रमी होना बाकी है, तो मानव समाज क्या बनेगा और क्या होमी मानवीय संस्कृति ! मानव ने अपने-आपको पहचाना नहीं है। शरीर जैसे उसका एक अविभाज्य अंग है, उसी प्रकार मन और बुद्धि भी उसके अविभाज्य अंग हैं। उसके साधन हैं, उपकरण हैं। लेकिन ये उसका सर्वस्व नहीं हैं। ये उसका सत्त्व नहीं हैं, जीवन का सार नहीं हैं। अपनी सत्ता कहां है, इसको जो पहचान नहीं सकता है, कहां खड़े हैं, यह भी जिसको मालूम नहीं, वह क्या व्यवहार करेगा ?

ध्यान में रखने की बात यह है कि मन और बुद्धि में क्रिया और प्रतिक्रिया ही संभव है। स्वायत्त कर्म संभव नहीं है। समग्रता में से जन्म लेकर जो उठता है, वही कर्म है। मन और बुद्धि को सतह पर कर्म संभव नहीं है और मिलन भी संभव नहीं है। तो, हमें समझना है कि जीवन जिएं कैसे ? हम कौन हैं ? किस सत्ता पर खड़े हैं ? किस धरती पर खड़े हैं ? यह जो धरती मानी गई थी, मन और बुद्धि की, या काया की,—इससे आगे बढ़ने का समय दुनिया में आ गया है। आप गलत न समझें। मन की या बुद्धि की मैं कोई निंदा नहीं कर रही हूँ। किसी वस्तु की मर्यादाओं को पहचानना उसकी निंदा करना नहीं है। लेकिन तन और मन के पुजारियों ने संसार में जो ऊधम मचाया है उससे आप और हम परिचित हैं। फिर भी इन उपद्रवों का परिणाम मेरे चित्त पर निराशा से नहीं होता है। इतना ही परिणाम होता है कि चुनौती सामने आई है कि मानव आगे बढ़े।

‘ध्यान’ मन या बुद्धि के स्तर पर होनेवाली कोई क्रिया नहीं, प्रक्रिया नहीं, शास्त्र नहीं। क्यों नहीं ? तो मन की एक चाल पहचाननी होगी। इतना भी कौन करता है कि देखे कि मेरा मन क्या है ? कैसे चलता है ? शब्द मेरी उबान से निकलता है, उसका मन के साथ क्या सम्बन्ध है ? मेरे जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है ? कि यों ही बाहर के बाहर मैं शब्द फँकता रहता हूँ ? यह भी कौन देखता है ! तन को देखनेवाले भी कितने हैं ? यह क्या है, इसको क्या खिला रहा हूँ, क्यों खिला रहा हूँ, क्या पहनाता हूँ ? मेरे शरीर में जो नसें हैं, इनमें क्या बहता है ? सांस लेता हूँ तो श्वास अपने-आप भीतर जाता है ? कहां-कहां श्वास

जाता है ? कोई नहीं देखता । किसको पढ़ी है ? किसको पढ़ी है कि अपने-प्रापको देखे । जो तरंग समाज में है, जो पद्धतियां हैं, उनके प्रवाह में बहते चले जाएं । कुछ युनिवर्सिटी से डिग्रियां (उपाधियां) ले लीं, कुछ पंसा कमा लिया, शादी हो गई, घर बस गया ! और क्या चाहिए ? जो लिया ! जीवन के प्राण को जितना क्षुद्र बनाओ, उतना बनाया जा सकता है । और अपने-प्रापको कुरेद कर उसको जितना ऐश्वर्यशाली बनाओ, उतना बनाया जा सकता है ।

### हेतु की पहचान

जो तन और मन का परिचय पाए हों, वे यह जानते होंगे कि मन तब तक प्रवृत्त नहीं होता है जब तक उसके पीछे कोई हेतु न हो । और हेतु, उसको चलने के लिए जब तक कोई दिशा न बतलावें, तब तक मन कोई कर्म नहीं करता । मन को चलने के लिए बैसाखियां चाहिए, हेतु चाहिए, दिशा चाहिए । और आप जानते हैं कि हेतु में और फल में बहुत फर्क नहीं है । जो हेतु है, वही बीज-रूप में फल है । हेतु ने फल भी निश्चित कर लिया । फल-प्राप्ति की दिशा भी निश्चित कर ली, फल-प्राप्ति के साधन भी निश्चित कर लिए । इतना सारा संसार हेतु में निहित है । जिसको आप हेतु कहते हैं, वह बड़ी भयानक बीज है । लोग अपने व्यवहार के हेतु से परिचित नहीं होते । इसलिए जब व्यवहार का फल निकलता है तो बड़े आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि यह तो मैंने सोचा ही नहीं था । यह क्यों निष्पन्न हुआ ? देखा ही नहीं कि हेतु के भीतर क्या-क्या छिपा है । हेतु की परतें होती हैं । उनको छीलना पड़ता है । बड़ा निर्भयता का काम है यह खोजना कि मेरा पत्नी के साथ, पति के साथ, बच्चों के साथ, दुनिया के साथ जो व्यवहार चलता है, इसमें हेतु क्या है मेरा ? जिसने हेतु को पहचान लिया, उसने तो प्राणा रास्ता तय कर लिया ।

मन हेतु के बिना नहीं चलता । उसे प्रयोजन चाहिए, और हेतु चाहिए । हेतु और फल में अन्तर नहीं है । फल का संभावित स्वरूप हेतु में पूर्वनिर्धारित रहता है ।

ध्यान का कोई हेतु नहीं रहता । ध्यान जीवन की एक अवस्था है,

जिसमें हेतु का प्रवेश नहीं है। लोग तो समझते हैं कि हम ध्यान करने बैठते हैं तो कुछ अनुभूति प्राप्त करने बैठते हैं। अतीन्द्रिय अनुभूति, साक्षात्कार प्राप्त करने बैठते हैं, मुक्ति प्राप्त करने बैठते हैं। हेतु बना लिए—मुक्ति प्राप्त करना, संन्यास प्राप्त करना, प्रात्म-साक्षात्कार प्राप्त करना, अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ, शक्तियाँ, प्राप्त करना। इन सब हेतुओं का जाल बिछाया। संसारी भ्रादमी नहीं जाल बिछाता है हेतुओं का ? तो जाल घाप भौतिक हेतुओं का बिछाते हैं कि अतीन्द्रिय हेतुओं का बिछाते हैं, फर्क क्या पड़ा ? अहंकार जाल बनाता रहता है, बुनता रहता है, फँकता रहता है। उसी जाल में कदम फँसते हैं। और फिर कहते हैं कि मैं बंधन में पड़ा हूँ। अहंकार का यह सब खेल तो चलता ही है।

सभी क्रियाओं के शान्त होने में ही ध्यान नाम की अवस्था और ध्यान नाम के नये आयाम का जन्म होता है। अब क्रियाओं को घाप शान्त नहीं होने देंगे। क्योंकि नये-नये हेतु बनाकर रख देंगे। अध्यात्म के नाम पर, धर्म के नाम पर, नये हेतुओं की निर्मिति करते हैं। उसका एक तत्त्वज्ञान बनाते हैं। उसका एक कुशल समर्पण प्रपने सामने रखते हैं। तो यह न धर्म है और न यह अध्यात्म है। यह अभिप्राय नहीं है कि अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ आती ही नहीं। आएंगी। अतीन्द्रिय अनुभूतियों में कौन-सी बड़ी बात है ? जहाँ तक चित्त है, जहाँ तक अहंकार है, वहाँ तक अनुभूति का क्षेत्र है ही, फिर चाहे वह ऐन्द्रिय हो या अतीन्द्रिय। जितनी गहराई में जाकर अनुभूति लेना चाहें, उतनी गहराई में ले सकते हैं। अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत बनाइए, गहरा बनाइए, बना सकते हैं। लेकिन है सारा मन और बुद्धि का ही खेल, जो ज्ञात के आधार पर चलता है। मनुष्य का व्यक्तिगत ज्ञात हो या मानव समुदाय का सामूहिक ज्ञात हो, ज्ञात के क्षेत्र में ही, ज्ञात के आधार पर ही, यह सारा खेल चलता है। और ध्यान है अज्ञात में प्रवेश। ध्यान है जीवन की ऐसी अवस्था में प्रवेश, जहाँ की आपको कोई जानकारी नहीं। कोई रास्ते नहीं हैं, बने-बनाए। कोई संज्ञाएँ नहीं हैं कि जो बोध करा दें आपको अनुभूति की संभावना नहीं है, क्योंकि संज्ञाओं के बिना, बोध के बिना, अनुभूति कैसी ? तो, अज्ञात में अज्ञात को जो गति है, उसमें घाप हेतु को कैसे

लाएंगे ? इसलिए कहती हूँ कि ध्यान मानसिक खेल नहीं, क्रिया-प्रक्रिया और शास्त्र भी नहीं। शास्त्र बनाए अवश्य गए हैं ! वह तो ठीक है अपने-आपको बहलाने, रिभाने के लिए।

आजकल पश्चिम में तो उसकी चुन सवार है। वे तंग आ गए हैं ऐंद्रिय सुखों से और उन्हें यह एक नया सिलौना मिला है। बँठते हैं—बैठो, और फिर धूपवत्ती जलाओ, कोई दीपक जलाओ, कोई मंत्र बोलो, कोई तस्वीर सामने रखो—इस तरह बँठते हैं। बड़ा रस लगता है। अहंकार को अनुभव का नया क्षेत्र मिला है न। उसको उत्तेजना मिलती है। और हर एक अनुभूति में से वह पुष्टि पाता है ! तो वह जो बेचारा मानव दोन-हीन हो गया था, वह आजकल पश्चिम में कुछ पुष्टि उसमें से पा रहा है। विज्ञान के रास्ते तो उसको कुछ मिलता नहीं है। ऊब गया है। विज्ञान को उसने जो समझा था, वंसा उसने उसे पाया नहीं। पश्चिम में विज्ञान उतना ही सन्दिग्ध बन गया है, जितना कि धर्म। न्यूटन ने, या कोपरनिकस ने, सत्य की जो खोज विज्ञान के मारफत की थी—अब उसकी तुलना में आज के वैज्ञानिकों की देखकर पहचानना कठिन है कि ये उनके वंशज हैं—ये लोग जो रासायनिक व जैव कीटाणु पैदा करके युद्ध करेंगे, अस्त्र-शास्त्र, गोला-बारूद बनाएंगे। विज्ञान तो एक पद्धति था न, जिसमें से विभिन्न शास्त्र और यन्त्र विज्ञान आए। विज्ञान सत्य को पाने की एक पद्धति है। लेकिन जो पद्धति है वह यदि सत्य के स्वरूप को निर्धारित करने जाए तो बड़ा धनर्थ होगा। विज्ञान और तकनीक की सत्ता के साथ मनुष्य को अपना मेल बँटाना पड़े, उसके नाप के अनुसार उसको अपनी काट-छांट करनी पड़े, यह देखकर अब पश्चिम घबरा गया है। विज्ञान एक पद्धति है, वह कोई नया देवता नहीं है। विज्ञान की पूजा नहीं की जाती। और विज्ञान के नाप से मानव को नहीं काटा-छाटा जा सकता। और मानव के बसने के जो स्थान हैं, उनको विज्ञान और तकनीकी के आदेशानुसार नहीं बनाया जा सकता। नया शहर है वहाँ के, और नया रहन-सहन की पद्धतियाँ हैं ? हैरान रह जाती हूँ कि कैसे मनुष्य जीता है। तरह-तरह के उद्योग, उद्योग-धंधों की और यांत्रिक विकास की जो सारी सामग्री उन लोगों

ने इकट्ठा की है—उसके जो कलेवर बनाए हैं—उन कलेवरों के बोझ के नीचे मानव दबता चला जा रहा है। तो, पश्चिम के लोग ध्यान के नाम से अनुभूतियों के पीछे जाते हैं। फिर चाहे वह भेन की ध्यान-पद्धति हो या हिन्दुस्तान से जानेवाले तपाकथित योगी और संन्यासियों की बताई हुई पद्धतियां हों। लेकिन वे लोग व्यस्त हैं उसमें; और भारत तो अध्यात्म के नाम से क्रियाओं का एक बड़ा जंजाल खड़ा करके उसमें उलझा ही है। संसार का बोझ क्या कम था? जो संन्यास के नाम से नया बोझ खड़ा करके और दबे जाते हैं? अध्यात्म के नाम से जाल बना करके उसमें फंसे रहते हैं। निर्ममता से कहने आई हूँ—जहां तक क्रिया संभवनीय है, जब तक अनुभूति लेने की वासना है, तब तक न धर्म है, न अध्यात्म है।

मन और बुद्धि की कोई उपयोगिता जीवन के नए आयास सृजने में नहीं हो सकती। इसको पहचानना चाहिए। जहां कोई जानकारी प्राप्त करनी है, जानकारी प्राप्त करके, उसको स्मृति में संचित करना है, स्मृति के संचित कोश में से जरूरत पड़ने पर उस जानकारी का उपयोग करना है, वहां बुद्धि के रूप में एक अच्छा सुन्दर यंत्र आपके हाथ में है। फर लीजिए उपयोग। व्यवहार के लिए जो शब्दरूपी प्रतीक बनाया है उसका उपयोग करना है, चलन के तौर पर, तो उपयोग कर लीजिए। इससे अधिक नहीं। इससे अधिक इनको महत्त्व देने से जीने का रास्ता नहीं खुलता है। यह इसलिए कह रही हूँ कि हम मन को शान्त करें। कैसे करें? मन तो शान्त होता ही नहीं है। शान्त करने का रास्ता बताइए। यह प्रामे का सवाल कोई न उठाएं। रास्ता बताइए, पद्धति बताइए, यह जिज्ञासा नहीं है। यह तो जिज्ञासा के रूप में अहंकार की, क्रिया के लिए मांग है। वह कहता है और कुछ नहीं तो अच्छा, शान्त होने की क्रिया तो मांग लूं।

मन को शान्त करेंगे यह कदूल करके 'मन को शान्त करने की प्रक्रिया बताओ'—यह कहकर फिर से उसी मुकाम पर वापस आ गए—जहां से प्रारंभ हुआ था। इसका नाम 'अघातो ब्रह्मजिज्ञासा' नहीं है। जिज्ञासा तो वह है कि मन और बुद्धि की मर्यादाएं पहचानने के बाद मन

का जो व्यसन है, वह छूट जाए। दिन-भर मन और बुद्धि को चलाते रहने का, जैसे कुत्ते की जवान चलती रहे, पूंछ हिलती रहे, वैसे दिन-भर मन और बुद्धि को चलाते रहें, जवान को चलाते रहें, यह जो आदत है न, उसका व्यसन छूट जाता है। जिज्ञासा एक शक्ति है। जिज्ञासा कोई खेल नहीं है, वह प्राण की चिनगारी है। और ऐसी चिनगारी है जो लगने पर बुझती नहीं है। उसको बुझाने की शक्ति संसार की किसी सत्ता में नहीं है।

### मन-बुद्धि की मर्यादा

मन और बुद्धि की मर्यादा पहचानने के बाद उनका जो व्यसन है वह समाप्त हो जाता है। इसके लिए घोरज की आवश्यकता है। 'अच्छा, मन से काम नहीं होगा, मुझे तो आदत थी मन को ही चलाने की। अब मन नहीं चलेगा, तो मैं क्या करूंगा?' यह सवाल जिज्ञासु नहीं पूछता है। 'क्या करूंगा?' यह सवाल पूछना, यानी प्रतिक्रिया को उठाना है। वह इतना ही कहता है, कि अच्छा, यह प्रसंगत है। यही तथ्य समझ में आए और पकड़ में आए तो बात प्रलय है। या इस तथ्य के साथ अनुष्य—मैं कहने जा रही थी—भले सहमत न हो, लेकिन तथ्यों के साथ सहमति क्या और प्रसहमति क्या। तथ्य तथ्य है। कोई या तो तथ्य को देखता है, या नहीं देखता है।

तो यह तथ्य देखा। अब तथ्य को यदि देखा है तो देखने के बाद का शेष काम उस देखने को ही करने दीजिए। 'देख लिया, अब आगे मैं क्या करूँ?' यह कहने से जो देखना है, जो दर्शन है, उस दर्शन को आपके जीवन के साथ कुछ घटित करने का यौका आप देते नहीं हैं। आकलन हो गया अब क्या? यानी वह जो आकलन है, उसे स्थिर होकर, व्यक्तिव के सभी स्तरों पर हम उतरने तक नहीं देते हैं। चेतना को छुपा नहीं कि उसके साथ कुछ करने को हम उतावले हो जाते हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया के व्यवहार को जीवन की गति मान लेने से यह अनर्थ होता है। हेतु-जनित भावों को जीवन की गति मान लेने से यह अनर्थ होता है। तो जिसने यह तथ्य समझ लिया कि क्रिया-प्रतिक्रिया का

व्यवहार सत्य की उपलब्धि में संगत नहीं है, वह मन को शान्त रहने देता है। मोटर में चढ़े हैं, जा रहे हैं, गए सौ मील, दो सौ मील गए। सामने घाई बड़ी नदी या तालाब, जाना है उस पार। तो यहां तक मोटर में चढ़कर आए हैं, इसलिए तालाब में भी हम मोटर लेकर घुसेंगे, ऐसा कोई कहता है? नहीं कहता। यही कहता है कि अच्छा भाई, यहां तो मोटर का काम नहीं है। उतर गए मोटर से। "नहीं, मेरी मोटर है। यहां तक मैं लाया हूं। बड़ी प्रिय है। हृष्टारों रुपये खर्च किए हैं! तालाब भी पार करना है तो इसी में बँठकर कलंगा!" नासमझी की बात लगती है न? मन के द्वारा और बुद्धि के द्वारा ही जीवन का जो आगे का आयाम है, उसकी खोज कलंगा—यह आग्रह उतना ही हास्यास्पद है।

मन और बुद्धि स्थूल हैं। जैसे कि आपका शरीर स्थूल है वैसे ही उसकी क्रिया में जो विचार या विकार या वासना उद्भूत होते हैं—वे भी भौतिक तत्त्व हैं। वे आँस को दिखते नहीं हैं। इसलिए वे हैं ही नहीं, ऐसा न कहें। 'दृश्य' और 'अदृश्य' की यह भाषा भी बड़ी खतरनाक है। आपको जो जीव-जन्तु आँस से दिखते नहीं हैं वे क्या हैं ही नहीं? हैं। अणुवीक्षण लेकर बैठते हैं तो देखते हैं न? उस प्रकार यह न कहें कि मन स्थूल नहीं है। मन स्थूल है। विचार स्थूल है। शब्द स्थूल है। इसकी मर्यादा यहां तक आ गई, समझ कर उसको रहने दीजिए यहीं। उनको यहां रहने दिया यानी छूट जाने दिया, उसके बाद सभी तनाव समाप्त हो जाते हैं।

आपने कभी देखा है कि मन की क्रिया में तनाव रहता है। मन की क्रिया में शक्ति खर्च होती है। एक संचाव पैदा होता है। कोई विचार आप करते हैं न, तो विचार का उद्भूत होना, उसका शब्द रूप धारण करना, यह मारा का सारा व्यापार एक स्नायविक तनाव पैदा करता है। विचार का उद्भूत होना और भावना का उद्भूत होना—उसमें मनुष्य की बहुत शक्ति खर्च होती है और इतने प्रकार के तनाव भीतर पैदा होते हैं कि अिनका कोई हिसाब नहीं। ये सारे के सारे तनाव शान्त हो जाते हैं। यानी, मन को शान्त होने देने का परिणाम कितना गम्भीर होता है, यह देखिएगा तो आप भवाक् रह जाइएगा। दिन-भर जो व्यक्ति

क्रिया, प्रतिक्रिया, विचार, भावना, सब में उलझा हुआ रहता है, वह सदैव थका-थका-सा रहता है। मानो उसमें जान न हो, बेजान-सा शरीर को, मन को, अपने-आपको घसीटता चला जाता है। चलने में कोई जान नहीं, बैठने में, उठने में कोई प्राण नहीं, जीवन के प्रति कोई 'काम'<sup>१</sup> नहीं। उसकी वाणी में से और व्यवहार में से जीवन के तुषार नहीं उठते और जीवन की सुगन्ध से सुरभित उसका शब्द या व्यवहार नहीं होता। विलकुल कागज के फूल। अब उन पर सेंट डाल दीजिए शिष्टाचार का। बहुत सारे नकली 'सेंट' निकले हैं, जिनसे आदमी अपने व्यवहार को सुगन्धित करता है, लेकिन उसमें जान नहीं होती।

### अपूर्व घटना

यदि आप मन को, बुद्धि को शान्त होने देते हैं, तो उनके शान्त होने का पहला परिणाम यह होता है कि जो शक्ति अवरुद्ध हो गई थी, बंट गई थी, दस दिशाओं में, परस्पर-विरोधी इच्छाओं में, विचार-वासनाओं में उलझी हुई जो शक्ति थी, वह वहां से मुक्त होकर अपनी पूर्णता में रह सकती है। शक्ति को अपनी समग्रता में रहने का अवकाश मिल जाता है। तब पहली बार, हमारी समग्र चेतना को, समग्र ऊर्जा को, जो विचारों-विकारों के छिद्रों से छलनी जैसी हो गई थी, उसे अपनी पूर्णता में आने का अवसर मिलता है। ऊर्जा का पूर्णता में होना कोई छोटी-मोटी घटना नहीं है। वह जीवन की एक अपूर्व घटना है।

मौन में प्रवेश करने पर पहला परिणाम तो यह होता है कि ऊर्जा को अपनी समग्रता में उपस्थित रहने का हम अवसर देते हैं। लोभ समझते हैं कि मौन कोई नकारात्मक चीज है। अभावात्मक है। मानसिक क्रियाओं के शान्त होने पर कोई रिक्तता पैदा होती है। रिक्तता सापेक्ष शब्द है। क्रिया को जीवन मानने से क्रिया के शान्त होने को रिक्तता कह दिया, अभाव कह दिया, शून्य कह दिया। लेकिन उसके शान्त होने पर एक बहुत बड़ी भावात्मक घटना घटती है, जिसमें सृजन

१. अंग्रेजी शब्द Passion के लिए यहां 'काम' का प्रयोग है, जिस अर्थ में उपनिषद् ने 'सोऽक्रामयत' कहा है।



की अपरम्पार शक्ति मरी है। जीवन में मैंने मौन के जैसी विस्फोटक, गतिशील शक्ति कहीं देखी नहीं है। विवश होकर वाणी का उपयोग कर लेती हूँ, लेकिन मैंने लिए वाणी छाया है मौन की, और व्यवहार छाया है शान्ति की, वह पदार्थ नहीं है। व्यक्त छाया है अव्यक्त की, काया अव्यक्त है। मौन काया है, शब्द छाया है। लगता है कोई काव्य हो। लेकिन काव्य नहीं है। नितान्त सत्य है।

हमने मन को रहने दिया शान्त। वाद में हम क्या करें? यह जो सवाल है, वह कितना अवैज्ञानिक है, इसको आज इस प्रभात में आपके साथ चिन्तन के लिए छोड़ दूँ। मन के शान्त होने पर, एक तथ्य घटित होता है। पहले वह ऊर्जा अपनी पूर्णता में, समग्रता में उपस्थित हो जाए, फिर उस उपस्थिति के बाद उसकी गति प्रकट होती है। अब वह जो गति है, वह वैसी ही है जिस प्रकार बिन्दु के प्रारम्भ और अन्त, उसके गर्भ में समाए रहते हैं। प्रारम्भ और अन्त के बीच वहाँ अन्तर नहीं है, दूरी नहीं है। देश की भी नहीं और काल की भी नहीं। समग्रता की एकगति इसको, अभी आप और हम जो गति जानते हैं, उसके साथ मत बाँधिँगा। उसके साथ मत जोड़िँगा। अभी हम जो गति जानते हैं, उसे 'यहाँ से वहाँ', यानी समय और काल में, जानते हैं। तो, गति के नाम से हमें अन्तर मालूम है और अन्तर को काटने की प्रक्रिया मालूम है।

### ऊर्जा की समग्रता

ऊर्जा की समग्रता की गति कैसे होगी, उसकी कोई दिशा होगी या नहीं? अब, समग्रता से बाहर कुछ हो, तब न कोई दिशा हो। दृष्ट-उधर, पश्चिम-पूरब, तब कह सकते हैं जब अवकाश हो। लेकिन अभी उसमें नहीं जाऊँगे। यह कहती हूँ कि एक तथ्य घटित होता है। बिस्वरी हुई ऊर्जा का समग्रता में उपस्थित होना। ऊर्जा की समग्रता में उपस्थिति अपने में किस प्रकार गति बनती है, उस गति से फिर दर्शन कैसे बदल जाता है, और दर्शन के बाद जो प्रतिवाद उठता है, प्रतिक्रिया नहीं, उसका स्वरूप कैसे बदल जाता है, यह विषय कल लेंगे।

हर बार लौटती हूँ विभिन्न देशों की यात्रा से, मित्र कहते हैं कि आप बाहर बोलती है और भारत आने पर आवूँ जाकर बैठ जाती हूँ, बोलती नहीं हैं। तो इस बार स्वीकार किया कि ग्रहमदावाद में मित्र हों, सुनना चाहते हों, तो बुलाइए। संकोच होता है कि क्या बोलें? जिसमें प्रतिपादन का अभिनिवेश नहीं, आवेश नहीं, उस बात को सुनने में क्या रस आएगा लोगों को। जिसमें यह भी अभिसंधि नहीं कि अपनी बात समझाकर दूसरों का जीवन बदल दूँ। लोगों को तो आनन्द तब आता है न कि कोई बैठता है, कुछ प्रतिपादन करता है। संकल्प कराता है, मत-परिवर्तन करता है, उपदेश देता है, शिक्षा देता है। यहां तो कुछ है ही नहीं। तो क्या बातें करें?

यह संवाद है। लेकिन फिर भी इस बार खुद ही लिखा कि भाई, यदि इच्छा हो तो मित्र-मिलन रखो। बोलूंगी, बैठूंगी। मानव-विमुख तो हूँ नहीं। केवल संकोचवश नहीं बोलती। और बातें ऐसी गहरी हैं कि उनको रोचक बनाया नहीं जा सकता, उत्तेजक नहीं बनाया जा सकता।

### प्रश्न और उत्तर

फिर भी आप सब आए। मैं आप सबकी बहुत कृतज्ञ हूँ। पांच मिनट हम शान्ति से बैठकर फिर विदा होंगे। दोपहर में जाऊंगी, चर्चा-सभा रखी है। किसी को कुछ पूछना हो, कहना हो, तो तिसंकोच और प्रांजलता से, जितनी प्रांजलता से मैंने आपके सामने बातें रखीं, उतनी प्रांजलता से आप भी बोलें। प्रश्नोत्तर-सभा कहने में भी मुझे संकोच हुआ। उत्तर थोड़े ही मैं देती हूँ? देखिए न। यथार्थता को देखना प्रावश्यक है। मैं तो प्रश्नों के समझने में शायद, हो सके तो, थोड़ी मदद कर दूँ। यह भरोसा होता कि प्रश्न एक के जीवन में उठे और उत्तर दूसरा व्यक्ति दे सके, तो उत्तर भी दे देती। लेकिन मुझे लगता है कि प्रश्न जहां उठता है, जहां जन्म लेता है, वहीं उसका उत्तर छिपा हुआ है। प्रश्न यदि उधार हो तो नकद उत्तर कभी मिलने वाला नहीं। इसीलिए तो, उधार जिज्ञासा ले-लेकर साधना का जाल विछाने वाले कहीं नहीं पहुंच पाते हैं और जीवन के अन्त में व्यर्थ की धकान लेकर

मरते हैं कि इतना किया, इतनी साधना की, कुछ नहीं हुआ। होता क्या ? जिज्ञासा कोई बौद्धिक, भावनात्मक विलास है ? यदि वह प्रतिक्रिया में से उठी हो, या उधार ली हुई हो, तो साधना एक व्यर्थ का आयास हो जाता है।

जब कोई प्रश्न पूछता है न, तो मुझे आनन्द आता है जैसे कोई अपने अक्षय को प्यार से देखता है कि यह मेरा शिशु है, उसी प्रकार भीतर से जन्म लेनेवाले प्रश्नों को प्यार से देखें। 'या गया अब प्रश्न' कहकर उसको यदि वितृष्णा के साथ देखेंगे, तो प्रश्न के और हमारे बीच एक पर्दा खड़ा हो जाता है। हमारी वितृष्णा के कारण फिर प्रश्न खुलता नहीं। कमल के दल जैसे खिलते हैं वैसे या सूर्यमुखी के फूल जिस प्रकार सूर्य के सामने उन्मुक्त होकर खिल उठते हैं, या कुमुदिनी चन्द्रमा के सामने जिस प्रकार खिलती है, उस प्रकार प्रश्न को खुलने देना चाहिए। और एक दूसरे की मदद करें प्रश्नों के समझने में तो हो सकता है कि जिसके भीतर प्रश्न का जन्म हुआ वही उत्तर पा ले। तो दोपहर की चर्चा-सभा में मेरी भूमिका आप जरूर समझ लीजिएगा।

यहां बैठी हूं तो भी केवल सुविधा के लिए बैठी हूं। नहीं तो, आप लोगों से ऊंचे आसन पर बैठना, इस ढंग से बोलना, बड़ा अहचिकर-सा लगता है। अघ्यात्म में जो अनेक अनर्थ घुस पड़े हैं, उनमें से एक है श्रोता और वक्ता के बीच आरोपित सम्बन्ध। और फिर वक्ता आरोपित कल्पना या प्रपेक्षा के अनुकूल नहीं निकलता है, श्रोता के नाप से कम पड़ जाता है, तो आरोपण करने वालों को वेदना होती है, यातना होती है। इन सब से आपको और अपने को मैं बचाना चाहती हूं। इसलिए कहती हूं कि चर्चा-सभा में उन्मुक्त संवाद ही होगा। जिनको शामिल होना हो, होवें। नहीं तो, कल सुबह मिलेंगे।

## प्रथम प्रश्नोत्तरी

२१-१२-६६

प्रश्न—चित्त-शुद्धि के लिए यमनियमादि का पालन आवश्यक है ?

उत्तर—है। होगा।

प्रश्न—मन से परे होना, यही क्या ध्यान और मौन की प्राप्ति का मार्ग है ?

उत्तर—प्रश्न देखिए, कितने शब्द इसमें आ गए हैं। शब्दों के साथ खिलवाड़ नहीं हो सकता। एक-एक शब्द बनाने में, शब्द को देखने में, उसको परिशुद्ध बनाने में, यड़ी मेहनत मनुष्यों ने की है। आपके पास मूल्यवान् से मूल्यवान् कोई रत्नमणि हो तो उससे भी इन शब्दरूपी प्रतीकों को मूल्यवान् समझना चाहिए।

“ध्यान और मौन की प्राप्ति का मार्ग हो सकता है”—इसमें ‘ध्यान’ आया, ‘मौन’ आया, ‘मार्ग’ आया, ‘प्राप्ति’ भी आ गई। प्राप्ति किसकी होती है ? जो अप्राप्त है—उसकी प्राप्ति होती है। ‘अप्राप्तस्य प्रापणम्।’ अप्राप्त की प्राप्ति करनी पड़ती है। अपने से जो दूर है, अपने से बाहर है, उसकी प्राप्ति हो सकती है। और मार्ग का मतलब है अपने और प्राप्तव्य के बीच जो अंतर है, उस अंतर को काटने का साधन। तो, पहला प्रश्न तो अपने-आपसे यह पूछना चाहिए कि क्या ध्यान की प्राप्ति करनी होती है ? जैसे पैसा कमाया, ज्ञान कमाया, प्राप्त किया। विचारों को प्राप्त किया, विचारों का संग्रह किया। अनुभूतियों को प्राप्त किया। संग्रह किया। वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। विचारों को प्राप्त करते हैं। वैसे ही ध्यान क्या प्राप्ति का विषय है ?

लेकिन ध्यान तो एक अवस्था है। सुबह कहा गया था कि ध्यान एक अवस्था है, जिसमें जिया जा सकता है। वह प्राप्तव्य नहीं है। यहाँ प्रश्न में जो शब्दविधान है, इसके बारे में यह कहना है कि इसमें थोड़ी भवैज्ञानिकता है। उसमें अशुद्धि है। बालक है, किशोर हुआ, फिर युवा बना। तो बालक से युवक बनने में समग्रता का अवस्थांतर है। शरीर का अवस्थांतर है, और मन और बुद्धि की अवस्था का भी अंतर है। लेकिन वह बाहर से प्राप्त नहीं करना पड़ता। जीवन भीतर से फूट पड़ता है। वसंत ऋतु आई तो जंगलों में जो पेड़-पौधे हैं, उनमें कलियाँ धाती हैं। फूल खिलते हैं। वृक्षों ने फूल प्राप्त किए? वह तो उनके भीतर जो ऐश्वर्य समाया था, वसंत के संयोग से वह अभिव्यक्त हो गया। जीवन में जो लावण्य की ऊर्मियाँ तन-मन पर लहराने लगती हैं, वे कभी प्राप्त करनी पड़ती हैं? भीतर समाया हुआ जीवन का ऐश्वर्य रोम-रोम में से झांकने लगता है। रोऊ नहीं पाता है मनुष्य।

### प्राप्ति और उपलब्धि

तो आपको 'प्राप्ति' और 'उपलब्धि' का अंतर बतला रही हूँ कि ध्यान एक अवस्था है, और उसमें मनुष्य जिए वह एक आध्यात्म है जीवन का। तन की क्रियाएँ, मन की क्रियाएँ, ये जिस प्रकार आध्यात्म है, परिमाण हैं जीवन के, उसी प्रकार मन के मौन में, समग्रता में जो घटित होता है, और जो कुछ प्रस्फुटित होता है, वह ध्यान की अवस्था है।

मन के शांत होने में, जो घटित और प्रस्फुटित होगा वह ध्यान है, यदि आप प्रस्फुटित होने देंगे तो। मन की मीज को ही बुद्धि के उपभोग का विषय बना लिया, या अतोन्द्रिय शक्तियों के लिए साधन बना लिया, तब तो अटक गए, रुक गए। जाने निकले थे देहली, रास्ते में कोई स्टेशन आया। या मोटर से जा रहे हैं—रास्ते में कुछ बनश्री सुन्दर दोषी, उतर पड़े। वहीं अटक गए। ऐसा यदि न हो तो ध्यान, जो समग्रता में प्रस्फुटित होने वाली सहज सावधानता की अवस्था है, उपलब्ध होगा। वह ऐसा अवधान है जिसमें से कुछ भी छूटता नहीं। ऐसा अवधान है कि जो केन्द्रित नहीं करना पड़ता। रोम-रोम में अवधान ही

स्पर्धित होता रहता है। तो, ध्यान समग्रता की एक अवस्था है। यह क्रिया तो है नहीं कि आप इसको प्राप्त करेंगे।

'परे होना', 'मन से परे जाना'—ऐसे शब्द प्रयोग करते हैं। लेकिन 'मैं' मन से परे नहीं जाती। यानी जो 'मैं' है, वह मन से परे नहीं जा सकता। सुबह जैसे विचार किया था, मन की क्रियाओं के शांत होने पर एक अतिक्रमण की घटना घटित होती है, एक अतिक्रमण हो जाता है। हम नहीं करते हैं उसको। मैं आशा करती हूँ कि इन दोनों के अंतर पर आप ध्यान देंगे। मुक्ति प्राप्त नहीं करते हैं। मोक्ष प्राप्त नहीं करना है। नहीं तो मन ने विषय छोड़ दिए, कह दिया कि "मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, और मैं क्या हूँ?" 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं आत्मा हूँ'—लेकिन 'मैं हूँ' ज़रूर। फिर वह अहंकार की एक नई चाल हो गई। इधर से हट गए, भौतिक से हट गए, मानसिक से हट गए, और प्रतिमानस में अपनी कमाई करने के लिए बैठे।

पंसा और प्रतिष्ठा कमाने वालों की अपेक्षा अतीन्द्रिय क्षेत्र में कमाई करने वालों का अहंकार बड़ा ही विकट होता है। बड़ा नशीला होता है। उसका नशा उतरता ही नहीं है। अपना भी नुकसान और दूसरों का भी नुकसान उसमें से निष्पन्न होता है। इसलिए ध्यान क्रिया का विषय नहीं है। ध्यान का कोई शास्त्र नहीं है। ध्यान की कोई प्रक्रिया नहीं है। अध्यात्म में प्राप्त करने का कुछ भी नहीं है। निवारण करने का कुछ है। प्रत्यवाय, विक्षेपों को हटाने का काम है, लेकिन प्राप्त करने का कुछ भी नहीं है। वह तो शुद्ध सत्ता की, अस्तित्व की बात है। चेतना पर से, ज्ञान की और अनुभूतियों की पतें हटाते चले जाएं, तो जो शेष रह जाता है उस शून्य की भी पतें हटानी पड़ती है। कपड़े जैसे उतारकर रखते हैं, वैसे ज्ञान और अनुभूति, इनकी पतें उतर जाने के बाद जो शेष रह जाता है, वह रह जाता है। उसमें आप कुछ नहीं कर सकते। आपको क्या करना होता है वहाँ? यह करने-न करने की भाषा, प्राप्त करने और छोड़ने की भाषा, यह अध्यात्म की भाषा है ही नहीं। यह संसार की भाषा है। इसको घर्म के और अध्यात्म के क्षेत्र में ले जाने वालों ने बड़ा नुकसान किया है। वहाँ सौदा नहीं है। वहाँ प्राप्ति नहीं है। वहाँ संघ और संग्रह नहीं है। सत्य का कोई संग्रह नहीं हो सकता। मुक्ति

का कोई संग्रह नहीं हो सकता कि भुक्ति और मोक्ष एक वार प्राप्त कर लिया, उसके ठेकेदार बनकर बैठ गए।

प्राप्ति की और संग्रह की भाषा—यह सांसारिक व्यवहारों का अध्यात्म पर आरोपण है। वहाँ कुछ नहीं है प्राप्त करने का। आपको यदि किसी ने फुसलाया हो, बहकाया हो यह कहकर कि अध्यात्म में यह-यह प्राप्त हो सकता है, ब्रह्मत्व-प्राप्ति हो सकती है, मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, तो ऐसी प्राप्ति कराने वाले ठेकेदारों से सावधान रहना ही अच्छा। वे भी 'मार्ग' बतलाते हैं। और मार्ग में संरक्षण का आश्वासन भी देते हैं। सत्य में संरक्षण की जरूरत नहीं है। वह तो चेतना की संपूर्ण निर्विचारता, निर्वस्त्रता है। विचार ही तो यमन है, चेतना के परिधान हैं। तो, चेतना की निर्वस्त्रता, निर्विचारता, निर्विकारता—यह शेष रह जाती है।

जिनको कर्तृत्व की बहुत महत्त्वाकांक्षा है कि यहाँ से, संसार से हटकर हम अध्यात्म के क्षेत्र में कुछ प्राप्त करेंगे वे बड़ी भूल में हैं। इसलिए न मार्ग है, न प्राप्ति है, न कुछ छोड़ना है। दृष्टि के परिवर्तन की आवश्यकता है।

और यह यम-नियम का पालन क्या होता है? शब्द तो उठा लिए! पतंजलि लिख गए, कई हजार वर्ष पहले। शब्द ऐसे घिस गए हैं। घिसे-पिटे शब्दों को उठाते हैं। हमारा न मन से परिचय है, न परे होने से परिचय है, न ध्यान से, न गीन से। तो यम क्या होता है, नियम क्या होता है, इनका जन्म कहाँ होता है? ग्रंथों में? पौधियों में?

पालन क्या करना होता है? अध्यात्म में भी कोई नागरिक, राज-नैतिक, धार्मिक कानूनों जैसे कानून बने हैं? उसमें भी कोई दण्डनीति है? उसमें कोई गुप्तचर विभाग है? देखिए, बड़ी समझने की बात है।

यम और नियम की आवश्यकता क्या है जीवन में? 'चित्तशुद्धि के लिए' कहा। शुद्धि किसी क्रिया का फल है? फिर, निर्दोषता भी क्रिया का फल होगा? निर्दोषता को भी प्राप्त करने लगेंगे लोग! कर्मजन्म है निर्दोषता? शुद्धि या पवित्रता कोई साधने की वस्तु है?

आकलन कहते हैं। ज्ञान नहीं कह रही हूँ, क्योंकि उस शब्द का बड़ा दुहपयोग हो चुका है। पावक अग्नि यदि कोई है तो वह आकलन की है। और जहाँ आकलन प्रकट होता है, वहाँ अशुद्धि नहीं रह सकती। शरीर को घोना पड़ता है, खिलाना पड़ता है, कपड़े घोने पड़ते हैं, यह सब स्थूल जगत् का व्यवहार है। लेकिन अंतर्विश्व में, जीवन के तथ्यों में, केवल समझना ही संभव है, करना नहीं।

‘समझना’ शब्द को भी खूब गौर से निहारिए। समझना यानी आकलन। बुद्धि से किसी कल्पना और विचार को पकड़ लेना—जैसे चिमटा वस्तु को पकड़ लेता है, ऐसे बुद्धि से किसी विचार को, कल्पना को, भावना को ग्रहण कर लेना समझना नहीं है। जानकारी बुद्धि से प्राप्त होती है। विचारों का, भावनाओं का, सिद्धान्तों का—इससे ग्रहण होता है। इनका संग्रह भी हो सकता है। संचय हो सकता है। लेकिन इसका और समझदारी का कोई बहुत संबंध नहीं है। इसका और आकलन का कोई संबंध नहीं है। जीवन के सीधे-सादे सरल सत्यों को समझे बिना भी जिन्दगी विद्वता में खत्म हो सकती है।

मनुष्य से पहले जानवरों में, पशुओं में, पक्षियों में सादी चेतना थी। मनुष्य में स्वसंबंधना है। उसमें चेतना की थोड़ी अधिक उत्क्रांति हुई, कि वह अंदर और बाहर—दोनों तरफ एक साथ काम कर सकती है। मनुष्य कर्म करता है, और मैं क्या कर्म कर रहा हूँ, इसको भी उसी समय जानता है। और यह कर्म मैं क्यों कर रहा हूँ, इसको भी उसी समय जानता है। कर्म करना कर्म करने की क्रिया को जानना, और कर्म करने के हेतु का भान रहना—दुतना सारा एक क्षण में हो सकता है।

भावना के, विचारों के, सिद्धान्तों के संग्रह को मेहरवानी करके जीवन का आकलन न समझिएगा। और मन और बुद्धि के द्वारा ज्ञान-संग्रह और अनुभूति-संग्रह ही संभव है, जीवन का आकलन संभव नहीं है। जरा भी संभव नहीं है। ज्ञान और बुद्धि की ग्रहण करने की जो क्रिया है, वह अग्रप्रत्यक्ष है। क्योंकि मन किसी वस्तु को पहचानता है, बुद्धि किसी वस्तु को पहचानती है तो नाम, रूप, गुण के माध्यम से पहचानते हैं।

मस्तिष्क का जीवन के साथ सीधा संबंध हो नहीं सकता, विचार



और भावना के द्वारा होता है। और विचार और भावनाओं के द्वारा जो संबंध होता है, उसमें से जिसको हम अनुभूति कहेंगे, प्रत्यय कहेंगे, आकलन कहेंगे, वह होता नहीं है। ज्ञान के पास अपनी कोई गतिशीलता नहीं है। फिर उसके लिए आप लाते हैं अनुशासन। कहेंगे कि ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा करेंगे तो फिर यह होगा, मृत्यु के बाद वह होगा। इस सब हिसाब को जोड़ कर सामने रखना पड़ता है। क्योंकि ज्ञान में अपनी गति नहीं है। ज्ञान स्वयं परिणमित नहीं होता है कृति में, कर्म में परिणत नहीं होता है। तो मनुष्य को ज्ञान के अनुसार कृति करने के लिए कुछ प्रेरणा देनी पड़ती है, प्ररोचना देनी पड़ती है। जैसे अर्धशास्त्र में कहते हैं न कि भाई, तुम इतना परिश्रम करोगे, तो इतना मुनाफा होगा। यह जैसे एक शास्त्र बनाया, वैसे फिर अर्ध्यात्म में भी एक लाभ का प्रयोजन लगा दिया। "ऐसा करोगे तो पुण्य होगा, न करोगे तो पाप होगा।" यह सब बना देना पड़ता है।

ज्ञान में और आकलन में जमीन-घासमान का अंतर है। आकलन स्वयं ही आचरण में परिणत होता है, उसके बीच कोई समय का अंतर नहीं है। तो, यदि मेरी समझ में आया कि एक प्रकार का आहार शरीर के लिए अनुकूल है—किसी ने कहा, इसलिए नहीं, फलाना खाना, यह सात्त्विक आहार नहीं है, ऐसा पोथी में लिखा है, इसलिए नहीं, समझ में आया कि मेरे शरीर के लिए यह अनुकूल नहीं है, तो फिर समझ के बाद यह चीज खाने की इच्छा उठती नहीं है। यह विष है, यह समझ लेने के बाद उसे खाने की इच्छा होती ही नहीं। यह नहीं कहना पड़ता है कि यह विष है, इसलिए आपकी पीने की जो इच्छा है उसको शांत कीजिए। उसको संयम में रखिए। यह सब कहना नहीं पड़ता। तो, आकलन और आचरण में अंतर नहीं है। आकलन स्वयंमेव आचरण बन जाता है। उसमें बीच में व्यक्ति के पुरुषार्थ की जरूरत नहीं रहती। इसलिए उसको सहजता कहा है। जो जीवन को समझता है, वह सहज में जीता है। और सहजता का जो ऐश्वर्य है वह यम, नियम आदि में नहीं है। वह उन्मुक्तता नहीं है। उससे जीवन समृद्ध भी नहीं होता। और उसमें जीवन है ही नहीं, गति भी नहीं।

अब प्रश्न के या विधान के दोनों हिस्सों को हमने ले लिया कि ध्यान प्राप्ति का विषय नहीं, मोन कोई कर्म नहीं, इसका कोई मार्ग नहीं। मैं जानती हूँ कि इससे कौसी धीर कितनी धवराहट दिल में होती है। क्योंकि आज तक शतकानुशतक से यही सुनते आए हैं कि अध्यात्म में यह प्राप्ति है, धर्म में वह प्राप्ति है। और शुद्धि होती है जीवन की केवल तथ्यों को समझने से। समझ में और शुद्धि में कोई अंतर नहीं है। आकलन के जैसी पावक अग्नि नहीं है।

**प्रश्न—**क्या यह सही है कि आत्म-परिचय के बिना धर्म या अध्यात्म में प्रवेश नहीं ?

**उत्तर—**यदि आपको 'आत्म-परिचय' से तन का परिचय, मन का परिचय, अभिप्रेत हो, तो आज प्रातःकाल में जैसे कहा गया वह जरूरी है। जो अपने-आपको नहीं पहचानता, जिसे आत्म-मिलन का अनुभव नहीं है, वह दूसरों के साथ तो मिल ही नहीं सकता है। तो फिर रूपांतर और अतिक्रमण की तो बात ही क्या ? और वह आत्म-परिचय कौन कैसे करेगा ? यह तो व्यक्ति पर निर्भर है। उसके लिए कोई सर्वसामान्य विधान होंगे, कोई विधि-निषेध बन सकेंगे, ऐसा मैं नहीं मानती हूँ। क्योंकि हरेक व्यक्ति अपने में एक स्वतन्त्र विश्व है, अद्वितीय है। और यह अन्तर्यामि होने के कारण हरेक की अपनी आन्तरिक खोज का विषय है। इसलिए एक व्यक्ति को जो लागू होता है, वह दूसरे व्यक्ति को लागू ही होगा, ऐसा नहीं लगता है।

## व्यक्ति और समष्टि

**प्रश्न—**सार्वजनिक जीवन का अध्यात्मीकरण हो सकता है या नहीं ?

**उत्तर—**यह सार्वजनिक जीवन क्या बला है ? जीवन तो जीवन है। जीवन एक है, अविभाज्य है, अखंड है। उसमें सार्वजनिक और निजी ऐसा कोई विभाजन है ? कोई खण्ड किए जा सकते हैं ? अष्टि और समष्टि ऐसे कोई दो अलग हैं ? यह व्यक्तिगत है, यह सामुदायिक है, यह हमारा निजी है, यह सार्वजनिक है—ऐसा कोई फर्क है ? यह कैसा अभिशाप लग गया है कि मनुष्य ने जीवन को खंडित कर दिया !

अब हाड़-मांस में, चमड़ी में रहते हैं और परदे को चीर कर भीतर नहीं देख सकते हैं तो भीतर और बाहर ये शब्द उपयोग में लाने पड़ते हैं। बोलने की सुविधा के लिए अन्दर और बाहर ये शब्द हैं। जीवन में कोई अन्दर और बाहर है ?

समष्टि से भिन्न कोई व्यक्ति का जीवन नहीं है। व्यक्तियों को हटा जो तो समष्टि का कोई अस्तित्व नहीं है। जीवन का विभाजन बड़ा अर्थात्मिक है। मानव जीवन के टुकड़े-टुकड़े करता चला। भिन्न-भिन्न मूल्यों का उसने ढेर लगा दिया और व्यक्तिगत मूल्य का सार्वजनिक जीवन के मूल्य से संबंध नहीं, आर्थिक जीवन का आध्यात्मिक जीवन के मूल्य से संबंध नहीं, राजनैतिक जीवन का मानवीय मूल्यों से संबंध नहीं इतने सारे विरोध पैदा कर लिए। और, मूल्यों की जितनी विभिन्नता, विविधता, विसंगतियाँ, उतने ही तनाव। फिर सबको सन्तुलित करता चलता है। सरकस में जैसे तार पर चलते हैं न ? तो जीवन कोई तार पर चलना है ? इन मूल्यों की विसंगतियों को संभालते हुए जिन्दगी खरम हो जाती है। जीने की फुसंत ही नहीं मिलती मनुष्य को।

पहला निवेदन तो यह है कि जीवन अविभाज्य, अखंड है। उसके टुकड़े हो ही नहीं सकते।

'सार्वजनिक जीवन', यह शब्द जो हमारे वाक्प्रचार में चल पड़ा है वह हट जाना चाहिए। यह विषय है। इसने दृष्टि को विषाक्त किया है। इसने जीवन को विषाक्त किया है। इसने अनर्ब-परंपरा पैदा कर दी है। यह आध्यात्मिक है, यह भौतिक है, यह व्यावहारिक है—इस प्रकार अनेक सत्तावाद पैदा हो गया है। और हम सब उसके शिकार हैं। यह विषय प्रस्तुत नहीं है। लेकिन आज जो भारतीय जीवन की दुर्दशा है, यह अनेक-सत्तावाद के शिकार बनने के कारण हुई है। पता ही नहीं चलता मुझे कि भौतिक जीवन क्या होता है, आध्यात्मिक जीवन क्या होता है। भोजन करना भौतिक कर्म हो गया ? खेती करना भौतिक कर्म हो गया ? कण-भर देने से घरती माता मन-भर जो लौटाती है, ये आपके भौतिक कर्म हैं ? एक श्वास, एक मुट्ठी अन्न पेट में जाने के बाद उसका विविध रसों में जो परिवर्तन होता है, यह भौतिक कर्म है ? स्नान करते

हैं—यह भौतिक है ? मुझे तो जीवन में भौतिकता कहां है कुछ समय में नहीं आता । मिट्टी के कण हैं, उनको क्या पार्थिव कहेंगे ? उससे विन्मय कोई भिन्न है ? अभी यहां जो है, इसको छोड़कर बाहर कहीं मुझे परमात्मा मालूम नहीं । और जिसको आप भौतिक के नाम से पहचानते हैं, उसको छोड़ कर कोई विन्मय हमें मालूम नहीं । इसीमें वही श्रोतश्रोत है, और यह भी कहने की भाषा है । अध्यात्मिकरण का एक ही अर्थ है कि जीवन की समग्रता को पहचानना । और श्वासोच्छ्वास से लेकर जो भी कर्म होते हैं, वह समग्रता के भान के आलोक में हों । समग्रता के अवधान को छोड़ कर कोई कर्म न हो, यही अध्यात्म है ।

सार्वजनिक और निजी इस प्रकार का भेद खड़ा करके आप जिसे निजी कहते हैं, उसमें कोई गोपनीयता है ही नहीं । आपको पदार्थ-विज्ञानवेत्ता और मानसशास्त्रवेत्ता बताएंगे कि विचार जब आपके भीतर उठता है तब आपको लगता है किसीको मालूम नहीं है । लेकिन जो विचार उठा, उसके स्पंदन आकाश को छू गए । आपके हाड़-मांस के भीतर भावना उठी, विकार उठा । उसको आप शब्दों के परिधान पहनाएं, न पहनाएं, उसके स्पंदनों को अपना जो काम करना था, वही कर गए । इसीसे तो वातावरण में तनाव, दबाव जो पैदा होते हैं वे हमारे उच्चरित नहीं, अनुच्चरित विचार-विकारों में से ही होते हैं । तो, गोपनीयता है कहां ? जीवन के सामने हम सदैव अनावृत हैं ।

सुवह कहा था कि चित्त को निर्भ्रान्त बनाना चाहिए । भ्रमों को हटाने में यहीं तक बुद्धि का पुरुषार्थ है । जीवन को खंडित बनाने का जो दोष चलता आया है, इसको तरफ ध्यान दिया जाए तो अच्छा ।

सुवह से रात तक जो जीवन हम जँते हैं—जिसको 'आज', 'अभी', 'यह क्षण' कहा जाता है, उसको छोड़ कर चिरन्तनता का निवास और कहीं नहीं है । जिसको आग अन्न कहेंगे, श्वाश्वत कहेंगे, चिरन्तन कहेंगे, वह कोई क्षणिक के विरोध में खड़ा है ? यह क्या द्वंद्वात्मक है ? अमृतता कोई सान्त के खिलाफ खड़ी है ? जन्म के दूसरी तरफ मृत्यु खड़ी है । लेकिन जीवन के विरोध में कोई तत्त्व खड़ा हो, ऐसा आप नहीं पाएंगे । जीवन निर्द्वन्द्व है ।

यह जो क्षण है, जिसको आप आज कहेंगे, अभी कहेंगे, इसी में घनतता का इत्र भरा है। और चेतन्य की पहचान जिसको मिट्टी के कण में से नहीं हो सकती, उसको सौ फुट की मूर्ति में से भी नहीं होगा।

हम मानव नहीं हैं। मानव का जन्म अपने भीतर होने दें, उतना साहस हममें नहीं है। परंपरागत मान्यताओं की तरंगों पर लुढ़कते-लुढ़कते जन्म से मरण तक पहुँच जाते हैं—जैसे-तैसे, हंसते-रोते। जीने का साहस नहीं है। इसलिए, क्या व्यक्तिगत और क्या सार्वजनिक, हमारा जीवन ही नितान्त दरिद्री है। भीतर भरा पड़ा है श्लेष, भीतर भरा पड़ा है, द्वेष, घृणा। भाग समझते हैं—वे सार्वजनिक जीवन में आए बिना रहेंगे? जिसको आप सामुदायिक जीवन कहते हैं, वह तो व्यक्तिगत जीवन का विस्तार-मात्र है। जो भीतर में पड़ा है, वही बाहर प्रकट होता है।

महत्वाकांक्षी आदमी कभी प्रहिंसक और शान्तिप्रिय हो भी सकता है? वह अपने-आपको दूसरों के साथ तोलता रहता है, नापता रहता है—और दूसरों की तुलना में मैं आगे कैसे बढ़ूँ, इसी की उसे चिंता रहती है।

सवाल यह है कि हमारे भीतर से मानव कैसे खड़ा होगा? और आज जीवन खंडित है। यह प्रखंड कैसे होगा? यह सार्वजनिक जीवन के अध्यात्मिकरण की समस्या नहीं है।

**यह सब किसने बनाया ?**

प्रश्न—कुछ सोचने पर यह सवाल उठता ही रहता है कि चांद, तारे, सूर्य, वनस्पति किसने बनाई? क्यों बनाई? कितनों को पूछा, जवाब नहीं मिलता। ज़िदगी-भर पूछता रहूँगा। ऐसा सवाल उठना नहीं चाहिए या उठता भी है? आप क्या मानते हैं?

उत्तर—मुझे जीने से फुरसत नहीं। मानने न मानने को वहाँ से समय लाऊँ? किसने बनाई दुनिया? क्यों बनाई दुनिया? कौतूहल और जिज्ञासा में फर्क है। यह जानते हैं न?

चांद किसने बनाया, तारे किसने बनाए, सूरज किसने बनाया, सृष्टि-वनस्पति किसने पैदा की? इससे पहले, यह सवाल पूछता कौन है, यह जानना जरूरी है। कहां उठा है यह सवाल? उठानेवाला कौन

है इस छोर को पकड़िए। द्वैत है या अद्वैत है, एक है या अनेक हैं—इस छोर को पकड़ने के बदले, दूसरे छोर को पकड़ेंगे। कि यह देखने वाला कौन है? देखना क्या होता है? तो शायद यह किसीको पूछना नहीं पड़ेगा। किसने बनाया? इस सवाल में गृहीत बातें कितनी हैं? 'किसने'—यानी कोई व्यक्ति का निर्देश है? किसी विभूति को खोज रहे है?

मैंने घट बनाया। ऐसे ही किसी प्रमु नामक, ईश्वर नामक व्यक्ति ने कोई यह संसार इधर से हाथ में मिट्टी, उधर से पानी, लेकर बनाया है? मिट्टी के उपादान से घड़ा बना। घड़ा बनानेवाले हाथ, घड़ा बनाने की इच्छा रखनेवाला चित्त, घड़े का उपयोग जल भरने के लिए करनेवाला—यह सारा जो है, वह घड़े से भिन्न है। तो, मनुष्य अपनी जो व्यवहार की पद्धति है उसे विश्व में आरोपित क्यों करना चाहता है, कि मैं घड़ा बनाता हूँ, इस प्रकार किसी ने संसार बनाया? और यदि यह हो कि विश्व में उपादान भी वह, निमित्त भी वह, कारण भी वह, विश्व से बाहर यदि बनानेवाला प्रलय न हो तो? भ्रम है या नहीं, इसके विधान में मैं नहीं जाती हूँ। इसका विधान 'हां' या 'ना' में कर्त्त तो नुम्हारी खोज समाप्त हो जाए। सुबह कहा था न कि हेतु खोज नहीं होने देता है। क्योंकि, हेतु में जो अपनी खोज का फल है, वह पूर्वनिदिष्ट है। हेतु पर आरूढ़ होकर जो कर्म करते हैं, उनके हाथ कुछ आता ही नहीं। क्योंकि हेतु और फल में कुछ अंतर नहीं है।

यह सवाल उठता कहां है, यह देखें। जिन्दगी-भर पूछते रहेंगे, ठीक है। आप पूछते रहिएगा। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि उस दिशा में जिज्ञासा नहीं। जिज्ञासा की दिशा को द्रष्टा की तरफ ले जाने से कहीं पहुंचा भी जा सकता है। लेकिन विज्ञान तथ्यों की खोज करने बाहर गया। प्रकृति (मैटर) तक पहुंचा, परमाणु तक पहुंचा—इलैक्ट्रॉन तक पहुंचा, प्रोटॉन तक पहुंचा। प्रकृति का सूक्ष्मतम कण उठाया। यह क्या है? कैसे बना? देखो। ऊर्जा की माया-विशेष (क्वैंटम) है। ऊर्जा क्या है? और वह जो आप कण उठाते हैं, जो परमाणु उठाते हैं, उस परमाणु का जो वजन है, उसके परिमाण में है वह ऊर्जा वहां? कैसे समझें? ऊर्जा उसमें किसी ने भर दी है? यानी ऊर्जा ने, जिसको आप

परमाणु कहते हैं, मीटर कहते हैं, उसको परिधान किया है ? या यह जो परमाणु है उसने ऊर्जा को अपने भीतर रखा है ? आज निजान बड़ा संदिग्ध होकर खड़ा है। जांच-पड़ताल की वहां पहुंच नहीं। इसलिए कह रही हूं, कोई सवाल तोड़ने के लिए नहीं। अच्छा होगा यदि आप, यह सवाल उठता कहां है, कौन उठाता है, इस तरफ मुड़ें। कुछ गति उस जिज्ञासा में पैदा होगी।

### स्व-परिचय कैसे करें ?

प्रश्न—स्व-परिचय कैसे करना यही हमारा असली प्रश्न है। स्व-परिचय करने में पिछले संस्कार दबाव डालते हैं, उनको कैसे समझें ?

उत्तर—अब घ्राए हम असली प्रश्न पर। हम अपने-आपको जानते नहीं हैं, इसका बोध होना चाहिए। क्या अपने-आपसे यह कहने के लिए आप तैयार हैं कि आप कौन हैं, यह आपको पालूम नहीं है। यह अपने-आपसे कबूल करते हैं आप ?

जो आदमी यह कहेगा कि मुझे स्व-परिचय नहीं है; निःशंकाता से कहेगा कि मैं नहीं जानता हूं मैं क्या हूं, तो कितने ही तनाव और दबाव, भर जाएंगे। जैसे पतभर की श्रुति में पत्ते भर जाते हैं न, वैसे तनाव और दबाव भीतर से हट जाएंगे। भीतर तो उधार ली हुई जानकारी है, उसीको आत्म-परिचय समझ बैठे हैं।

ज्ञान-संग्रह का अहंकार आत्म-जिज्ञासा को पैदा नहीं होने देता। दिक्कत तो यह है कि मैं जानता नहीं हूं, यह कहने की निर्दोषता है नहीं। हजारां में एकाध व्यक्ति के चित्त में अपना अज्ञान कबूल करने की निर्दोषता है, विनम्रता है। हमारा तो अपने शरीर से भी परिचय नहीं है।

स्व-परिचय का भ्रम जब तक दूर नहीं होता, तब तक जिज्ञासा का जन्म असंभव है। धर्म का जन्म असंभव है। लेकिन यह भ्रम टूटना ही नहीं। स्व-परिचय का भ्रम न हो, तो व्यक्ति कभी दूसरों का मूल्यांकन नहीं करेगा। लेकिन हमारे पास तो सब नाप-तोला तैयार है न—अच्छाई के, बुराई के, सज्जनता के, दुर्जनता के, शुभ के, अशुभ के। और उधार लिए हुए नाप-तोलों के आधार पर वस्तुओं को ब्या, मनुष्यों को भी हम

तोल देते हैं। एकाग्र जो धारम-परिचय पा लेता है, और जिसको पता चल जाता है कि तन के, मन के, बुद्धि के घेरे से परे चेतना का एक आग्राम है, जहाँ न कोई कर्ता है, न कोई कर्म है—केवल 'सत्तामात्रेण अस्तित्वम्' है, उस व्यक्ति की चित्त-दशा अलग ही हों जाती है। इसलिए स्व-परिचय की इच्छा का हृदय में जन्म होना जरूरी है।

जन्म मिला। शरीर मिला है। खाओ, पीओ, कमाओ, शादी करो, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। और जिस दिन मौत हाथ पकड़ कर उठा ले जाती है, उस दिन मरो। मरने का भी तो साहस नहीं। जो मरना जानता है, वह जीने का भी मज्जा लूटता है, मरने का भी मज्जा लूटता है। मरने वाले कम हैं, मारे जाने वाले ही हम सब हैं। जीने वाले कम हैं,—मान्यताओं की, विचारों की, भावनाओं की तरंग पर प्रवाह-पतित जैसे बहने वाले ही हम सब हैं।

इसलिए स्व-परिचय की इच्छा सबसे पहले जरूरी है। और स्व-परिचय की इच्छा के लिए यह भ्रम टूट जाए कि पुस्तकों में से, संगृहीत ज्ञान लोगों के बचनों में से उधार लिए हुए सिद्धांत, उधार लिए हुए दूसरों के अनुभव, विचार—यह आकलन है। अपना भ्रान्ति-निरसन जरूरी है।

आपने कह दिया कि परिचय में पुराने संस्कार बाधा डालते हैं। संस्कार आते हैं—वे दबाव डालते हैं परिचय के रास्ते में? यानी क्या होता है? कौन-से संस्कार आते हैं जो दबाव डालते हैं?

### क्रिया और कर्म

मूलभूत समस्या वहाँ है कि मन की जो क्रिया है क्या वह कर्म है? और हेतुओं की, विचारों की, भावनाओं की, गति पर चलना—यह क्या जीवन है? यह सवाल है। संस्कार दबाते हैं, यह सवाल नहीं है। मनुष्य यह स्वीकारता नहीं है कि मन की सतह पर जिया नहीं जा सकता। मन की सतह पर कर्म सम्भव नहीं है। मन की सतह पर क्रिया और प्रतिक्रिया ही संभव हैं। यह तथ्य जो रख रहे हैं, यह तथ्य है या नहीं, इसको परख कर देखना चाहिए। जब विचार उठता है, भावना उठती है, तो क्या उठता है? यह मेरा विचार है? यह मेरी भावना है? या भावनाओं को और



विचारों को एक पद्धतिपूर्वक हमारे दिमाग में भर दिया गया है ? जैसे वह विचारक-यन्त्र अब निकाल रहे हैं न, इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर बना रहे हैं। वे हिसाब जोड़ देंगे, परीक्षा की उत्तर-पुस्तिका जांच देंगे, चित्र बना देंगे, कविता बना देंगे। कम्प्यूटरों का तो ऐसा विकास वहां पश्चिम में कर लिया गया है कि अब तो उन्हें सांकेतिक भाषा के स्थान पर मनुष्यों की भाषा बोलना भी सिखाया जा रहा है। सांकेतिक भाषा के लेन-देन के लिए विशेषज्ञों की जरूरत होती है। इसलिए बड़े पैमाने पर कम्प्यूटरों का उत्पादन संभव बनाने के लिए उन्हें मनुष्यों की भाषा सिखाई जा रही है। जब पता चलेगा कि बुद्धि से कल्पना, विचार, भावना को ग्रहण और धारण करना, यह सारा का सारा प्रतिक्रिया का मामला है, यह कर्म नहीं है, तब खोज शुरू होगी। क्रिया और कर्म का अन्तर समझना पड़ेगा। क्रिया में अंश का स्पन्दन है और कर्म में समप्रता स्पंदित होती है। इस भेद के भीतर देखना पड़ेगा। और जब वह पहचान लेंगे कि मन की सतह पर केवल प्रतिक्रिया ही होती है, कर्म संभवित नहीं है, तब कहीं आकर आगे बढ़ सकेंगे।

कितना ही पुराना अंधकार हो — दस साल से कमरा बंद है, तो दस साल का अंधेरा वहां इकट्ठा हुआ ? और दीपक जलाया तो फिर वह एक क्षण-भर में जलाया हुआ दीपक दस साल का अंधकार, कैसे दूर करेगा ? ऐसा सवाल तो नहीं उठता है। प्रकाश का और अंधकार का जो रिश्ता है, वही प्राकलन का और अज्ञान का है। प्राकलन के प्रालोक में अज्ञान ठहर नहीं सकता। और यह 'इतने वर्षों का', 'कितने वर्षों का', ये वर्ष किसने बनाए ? वर्ष जिसको प्राप कहते हैं, महीना कहते हैं — दिन कहते हैं — घंटा कहते हैं। यह कोई कारतव्य है। कल्पना मात्र है। मनुष्य ने समय को नापने के लिए ये माप बनाए। घाघा सेर, पाव सेर, यह जैसे प्रापने एक हिसाब की गिनती लगाई, वैसे ही समय का प्रापने नाप लगाया। समय में कोई घंटे हैं ? कोई मिनट हैं ? कोई दिन है ! कोई महीने और वर्ष हैं ? समय में तो केवल अस्तित्व मात्र है। है, बस विशुद्धता। और क्या है ? लेकिन हमने तो नाप बना दिया। इन प्रतीकों की मर्यादा समझनी चाहिए।

तो, आकलन के आलोक में अज्ञान, कितना ही गहरा क्यों न हो, ऐसे ही उड़ जाता है जैसे दीपक के आलोक में अंधकार। दीपक का जाना, अंधकार का जाना, कोई दो स्वतन्त्र क्रियाएं नहीं हैं। उनका ऐसा अद्भुत और रम्य संबंध है कि दीपक जहां जल उठा, वहां अंधकार ने मुंह छिपा लिया।

जब तक आकलन नहीं होता तभी तक संस्कारों का दबाव रहता है, तभी तक अज्ञान का जोर रहता है। और हमको ज्ञान-संग्रह के व्यसन पर से आकलन के पुष्पार्थ पर जाना पड़ेगा। जिनको हचि है कि मनुष्य के जीवन में कोई क्रांति हो, नया मानवीय समाज बने, उनको समझना पड़ेगा कि ज्ञान-संग्रह जीने नहीं देता है, प्रतिक्रिया में खिन्दिगी नष्ट हो जाती है। तो वे आकलन की तरफ बढ़ेंगे। आकलन स्वयं ही आचरण बन जाता है। उसमें फिर करने का कुछ रहता नहीं।

**समाधि क्या है ?**

**प्रश्न**—समाधि में शब्द, श्रुति, चित्र, और इतर संवेदना—इनकी क्या स्थिति रहती है ?

**उत्तर**—बहुत सुन्दर प्रश्न है।

प्रगाढ़, निद्रा में जिसको हम सुषुप्ति कहते हैं, निःस्वप्न निद्रा कहते हैं, उस निद्रा में शब्द को क्या हो जाता है ? चित्र को क्या होता है ? कहां जाते हैं वे ? नष्ट हो जाते हैं ? खो जाते हैं ? आप में घटित क्या होता है ? तो वे पड़े रहते हैं। क्रियाशील नहीं हैं। उनका भान भी नहीं है।

समाधि में क्या होगा ? वे तो हैं। शब्द हैं, और चित्र हैं, संवेदना की शक्ति है। संवेदनशीलता जामृति से भी अति तरल है। क्योंकि अवधान कहीं भी, किसी एक विषय में केन्द्रित नहीं है। अवधान को हेतु के झूठे से नहीं बांधा है। और किसी विषय से भी नहीं बांधा है। मुक्त अवधान होने के कारण संवेदनशीलता अति तरल है, अति चपल है।

तो शब्द है, चित्र है, संवेदनशीलता है, जागरित है, लेकिन उनमें से प्रतिक्रिया पैदा नहीं होती है। मन की समग्रता में जो अनुभूति पड़ी है, जान पड़ा है, उसको लेकर मन निःस्तब्ध है, मूर्च्छित नहीं है।

समाधि में लय भी नहीं है, विलय भी नहीं है, मूर्च्छा नहीं है, विनाश नहीं है। वस प्रवधान का दीपक जलता है। आपके प्रश्न में कुछ और दूसरा भाव तो नहीं है ?

### जप का महत्त्व

प्रश्न—जप करना लाभदायक है या नहीं ?

उत्तर—चार प्रकार के जप में से किसी भी प्रकार का जप आप करें। लेकिन चित्त को एक अत्यन्त सूक्ष्म सतह पर क्रिया-प्रवण रक्षना पड़ता है। जप करने से नाद-स्पंदनों का शरीर पर जो रासायनिक परिणाम होता है—उससे कुछ लाभ हो जाते हैं। कितने ही शारीरिक आधि-व्याधि भी दूर हो सकते हैं और जो जानतंतु हैं उनको कुछ थोड़ा-सा प्राराम मिलता है। उन पर शमनकारी और सुखद प्रभाव हो सकता है। लेकिन वहां क्रिया जारी है—इसलिए वह मीन तो नहीं हुआ न ! क्रिया की शक्ति है लेकिन क्रिया-प्रवणता नहीं है, प्रवधान है लेकिन प्रति-क्रिया नहीं है—यह मौज का सत्त्व है। और इस दशा में निरंतर रहने-वाले व्यक्ति को जब मन या बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है, तो उसकी क्रिया-कुशलता सीगुना बढ़ जाती है। मन के विनियोग की शक्ति बढ़ जाती है।

प्रश्न—जप द्वारा क्या मन को मौन नहीं किया जा सकता ?

उत्तर—जप करने की बात तो नहीं कही गई न यहां ! निरंतर मन को चलाते रहना, यह तो सदियों का अभ्यास ही हो गया है। बुद्धि को चलाना, मन को चलाना, इसीको हमने जीवन माल लिया न ! इसको जीवन की गति मान लिया न ! इसलिए मन चलता रहता है। इसको रोक नहीं सकते हैं। क्योंकि शक्तियों की प्रादत पड़ी हुई है। जोर लगा कर रोकने जाएंगे तो वह ऊपर उठके चला आएगा। एक क्षेत्र में दबाएंगे तो दूसरे क्षेत्र में उभर आएगा। वहां उबरदस्ती काम नहीं देती। मन को टाल नहीं सकते हैं। उससे कतरा कर भी जी नहीं सकते हैं। लेकिन हां, एक बात है। अपने-आपको शिक्षित बनाने का प्रारंभ यहां से हो सकता है—कि मन और बुद्धि को एक वंश समझा जाए और इस वंश

का समझदारी से उपयोग किया जाए। अत्यन्त दक्षतापूर्वक, जहाँ प्रयोजन हो, वहाँ उपयोग करें, उसका नाजायज उपयोग न करें, और जहाँ उपयोग करना भी है वहाँ बहुत ही सुनिश्चितता और सुरेखता से करें। पहले तो उसके उपयोग की कला सीखनी पड़ेगी। हम क्या करते हैं कि उसका विनियोग ठीक से नहीं करते। जो भी कोई काम करने जाते हैं, उसकी आदत बना लेते हैं ताकि रोज-रोज अवधान खर्च न करना पड़े। आदतों का एक ढाँचा बंधों बना लेते हैं? मनुष्य को लगता है कि आज यह किया, अब कल यही करना पड़ेगा, तो इसका नुसखा सीख लो, ताकि परिश्रम नहीं करना पड़े, अवधान न रखना पड़े। फिर आदत के सहारे उसको कर डालेंगे। यह जो आदत बन जाती है—मनुष्य को आदत के किले में सुरक्षितता जो प्रतीत होती है, उसका कारण यही है कि उसको अवधान नहीं चलाना पड़ता। मतलब, हम जाना नहीं चाहते। हम कर्म नहीं करना चाहते हैं, आदतें बनाते हैं—ताकि मशीन जैसे चलती है, वैसे काम करते रहें। एक भी कर्म पूरा नहीं होता है। खंडित कर्म होता है। और दिन-भर ऐसे सँकड़ों कर्म जो खंडित होते रहते हैं—तो मन को एक साथ सौ विषयों में भटकने की आदत हो जाती है। तो एक समय पर एक ही कर्म अपनी समग्रता से हम नहीं करते हैं, खंडित कर्म को करते हैं। मन चलता रहता है। एक समय में, एक ही कर्म है, अपनी समग्रता में से करें। यह सीखना पड़ेगा। और मन की शक्तियों का दुरुपयोग न करें। यह दूसरा सीखना पड़ता है। भाई, शब्द का प्रयोजन है न। जब संवाद करना हो, कुछ बोलना हो—तो शब्द का उपयोग है। हम बिना प्रयोजन के शब्द को कैसे फेंकते हैं। गपधप में लाते हैं। निदा में, गप्पों में लगाते हैं शब्द को। अब जो प्रयोजन के बिना मन को शब्द पँदा करने का और फेंकने का अभ्यास हो गया—तो आप आँखें बंद करके जब बैठते हैं तो वह बराबर वही धंधा करता है। कुछ मन बिगड़े हुए बच्चे जैसा व्यवहार करता है। कुछ काम नहीं है तो स्मृति के साथ खेलते हैं। जो पिछले अनुभव है, उनका गाय-भेंस की तरह रोमन्थ (पगुराना) क्रिया द्वारा रस लेने बैठते हैं।

सुख की, दुःख की स्मृतियों को जगा-जगाकर उनके साथ खेलते हैं।

कितना अपमान है ! स्मरण शक्ति क्या इसलिए दी भगवान ने ?

हम हर शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। तो जो सब शक्तियों का दुरुपयोग करता है उसका मन तो फिर चलता ही रहता है, चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। इसलिए मैं तो समझती हूँ कि समग्र शिक्षण-पद्धति में नए ढंग से बच्चों को बचपन से मन का परिचय करा देना चाहिए। एक हीवा नहीं खड़ा करना है। कि मन बहुत बड़ा संकट है। शत्रु है, कोई दुश्मन हमारा। तो उससे बच्चों का परिचय करा दें। जैसे प्राणिविज्ञान, भूतविज्ञान सिखाते हैं, वैसे ही मन की कार्य-पद्धति से भी परिचय कराना आवश्यक है कि मन ऐसे रहता है, ऐसे काम करता है, विचार ऐसे पैदा होता है, स्मृति ऐसे चलती है। यह यदि परिचय करा लें तो फिर मन के साथ एक वैज्ञानिक, स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित होगा।

आज हमारा मन के साथ जो संबंध है, वह बड़ा अवैज्ञानिक है। इसलिए ध्यान के लिए बैठे भी हैं तो मन चलता रहता है। तेईस घंटे में जिस प्रकार जीवन जिएंगे, उस पर निर्भर है कि एक घंटे में, जब ध्यान में बैठते हैं, उस समय शांति की क्या गुणवत्ता होगी। उस एक घंटे में अनुभूत होने वाले आनन्द का अनुबन्ध बाकी तेईस घंटे के जीवन से है। साधना के नाम पर तन्त्र-मन्त्र के खिलौने देकर हम मन को बहकाए रखते हैं, उसे आत्म-विस्मृति हो सकती है। आत्म-विस्मृति आत्मोपलब्धि नहीं है।

**मौन क्या है ?**

मौन की वशा से हमारा परिचय नहीं। मौन क्या है, यह हमें मालूम नहीं। जबान से न बोलना मौन नहीं है। शरीर से क्रियाओं को न करना—यह मौन नहीं है। ये इसके बाह्य लक्षण हैं। यह भी हो सकते हैं, और शरीर हिलता है, डुलता है, काम करता है, फिर भी भीतर मौन की समृद्धि और ऐश्वर्य की आंच नहीं पहुँचती। यह भी हो सकता है। मौन हमें मालूम नहीं है आज। क्रिया से निवृत्ति मालूम है। प्रवृत्ति मालूम है या निवृत्ति मालूम है, लेकिन वृत्ति दोनों के भीतर है। इसलिए बाहर का काम और व्यापार छोड़ दिया, और आस्र बन्द करके बैठ गए, और भीतर का व्यापार और व्यवहार शुरू किया—यह मौन नहीं है।

शुरू में जब मन को ढीला छोड़ देते हैं तो खूब विचार आते हैं, दौड़ते हैं। उनको देखें। आकाश में मेघ आते हैं। उसी प्रकार उठनेवाले, आनेवाले विचारों को देखें—उनको रोकें नहीं। उनको बाँधें नहीं। उनको पकड़ कर उनपर प्रतिक्रिया करने की, आदत के कारण जो इच्छा हो जाती है—वह एक बड़ा जाल है, उसमें न फँसें, केवल देखें। जब उठनेवाले विचारों को, इच्छाओं को रोकते नहीं हैं और उन पर धमल भी नहीं करते हैं और देखते हैं—तो क्या घटित होगा? रोकने जाएंगे, तो विचारों की जो अपनी गति है उसे आप बड़ा देंगे। उनकी शक्ति दुगुनी हो जाती है। जितना रोकने जाएंगे, उतनी और तेजी से वे आते हैं। या तो रोकें नहीं। देखें। तटस्थता से देखें, भला बुरा न कहें। उनका विश्लेषण करने में न जाएं। उसका कारण क्या है—खोजने में न जाएं। उनकी जड़ें कहाँ हैं, यह देखने न जाएं। केवल देखना शेष रह जाएगा।

शुरू-शुरू में पता चलेगा कि देखना हमें भी नहीं आता है। हमारे देखने की क्रिया में ही अभिमत मिला हुआ है। जहाँ देखने गए, वहाँ प्रतिक्रिया हुई। तुलना की, अच्छा-बुरा कहा, भला-बुरा कहा, उसका निर्णय किया, फिर आगे बढ़े। तो हमारे देखने के क्षण में ही परीक्षण समाया हुआ है। विश्लेषण समाया हुआ है। तुलना समाई हुई है। देखने के क्षण में इतना सब अनर्थ ही जाता है। देखना छूट जाता है। फिर ऐसी विनम्रता का उदय होगा चित्त में, कि ओ-हो-हो, ज़िदगी बीत गई, मुझे तो देखना भी नहीं मालूम। प्रवलोकन मालूम नहीं। विनम्रता तब प्रोत-प्रोत होने लगेगी कि मुझे तो यह भी मालूम नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि निराशा आ जाए कि मुझे यह भी मालूम नहीं, यानी मैं इतना एवंगुणविशिष्ट और मुझे यहाँ तक मालूम नहीं—फिर तो आत्म-दया आएगी। फिर तो अबसाद आएगा। फिर तो अपने लिए दया, क्षोभ, यह सब पैदा होगा। यह सब अहंकार की लीला है, आत्मदया और अबसाद, ये सब महत्वाकांक्षा की छाया में पलते हैं।

### अवलोकन का आलोक

अवलोकन के आलोक में जब संस्कार आ जाते हैं, और वहाँ न कोई

पकड़ने वाला न कोई धमल करने वाला, तो उनमें अपनी गति न होने के कारण वे हमसे कुछ प्रतिक्रिया करा नहीं पाते हम तद् रूप हो जाते हैं, तभी वो हमसे आचरण कराते हैं। विवशता संस्कारों के उठने में नहीं है, विवशता उठनेवाले संस्कार के साथ अपने-आपको बाँधने पर पैदा होती है। मेरा क्रोध ! मेरी ईर्ष्या ! क्रोध और ईर्ष्या ये सब कोई मेरे और तेरे हैं ? विचार कोई मेरे और तेरे होते हैं ? ये तो पद्धति हैं मानव मात्र की। एक यंत्र उसने पैदा किया—और वह चलता है। जब देखेंगे; और भ्रवलोकन के प्रकाश में जबसे संस्कारों की शक्ति घटती चली जाएगी—तब देखिए कैसे मजा आता है। परीक्षण नहीं, निरीक्षण नहीं, तुलना नहीं, निर्णय नहीं, केवल देखना है। उस देखने में देखने वाला भी खो जाता है। दृश्य भी शांत और द्रष्टा भी शांत हो जाता है। और यह कोई अनुमान से नहीं कह रही हूँ। यह प्रत्यक्ष में घटित होते देखा गया है।

## द्वितीय प्रवचन

२२-१२-६६

### मानव चित्त

जो व्यक्ति जाग्रत अवस्था में घूमता है, आंख और कान खुले रखकर घूमता है, उसके ध्यान में एक बात अनायास प्रा जाती है कि सारा विश्व एक अपंग मानव-मंडल बन गया है—अपंग मानवों का समुदाय। शरीर से जो अपंग होने हैं, उनकी अपंगता लोगों के देखने में और समझ में आती है। लेकिन चित्त की अपंगता न उस व्यक्ति की अपनी समझ में आती है और न दूसरों की ही समझ में जल्दी आती है। फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि आज मानव का चित्त रुग्ण है, अपंग है। विचार और भावना की बँसाखियों के बिना जो चित्त चल नहीं सकता, वह चित्त स्वस्थ नहीं है। निर्विचार और निर्विकार अवस्था ही चित्त के स्वास्थ्य का सहज लक्षण है। चित्त की निर्विकारता और निर्विचारता ही जीवन का स्वास्थ्य है। और उस निर्विचार, निर्विकार अवस्था में ही प्रेम का जन्म हो सकता है। विचार और विकारों के कोलाहल में प्रेम जन्म पा ही नहीं सकता, मैत्री संभवित नहीं होती, सहयोग और सहकार्य की संभावना ही नहीं रहती।

समुदाय से समाज नहीं बनता है। पशुओं के जिस प्रकार झुंड घूमते हैं, और जंगल में अपने-अपने दायरे बना लेते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के गिरोह इस विशाल घरती तल पर घूमते हैं, उनके दायरों का और घरौदों का नाम राष्ट्र है। पशुओं के परस्पर व्यवहार में भी अंतिम प्रामाण्य शक्ति का है, और मनुष्यों के परस्पर संबंधों में भी अंतिम प्रामाण्य हिंसा



का है। पशु हिंसा जानता नहीं है। जीव को यदि जीव का भक्षण भी करना पड़ता है, तो वह प्रकृतिगत धर्म के कारण। हिंसा तो मनुष्य के दिमाग की, मस्तिष्क की उपज है।

तो, आज संसार में मानव अपंग-चित्त है, रुग्ण है। ऐसी रुग्णता में और अपंगता में धर्म कहाँ और अध्यात्म कहाँ? ऐसी अवस्था में, अशान्ति में, ऐसे कोलाहल में, प्रेम और शान्ति कहाँ? ऐसे ही रुग्ण चित्तों को लेकर यदि समाज-मुधार हो सकता, समाज-शान्ति हो सकती, देश का पुनरुत्थान हो सकता, तो ध्यान की बात कहने आपके पास नहीं आती। जिन व्यक्तियों को साथ लेकर समाज का पुनर्निर्माण करना पड़ेगा, वे ही व्यक्ति यदि अपंग हों, तो अपंगों को साथ लेकर कहीं एवरेस्ट शिखर पर चढ़ा जाता है? सुधारों की जंत्री कागज पर लिखने से, नक्शे और योजना बनाने से होता तो कुछ नहीं—न समाजवाद आता है, न सर्वोदय आता है, न साम्य आता है, न विषमता हटाई जाती है, न बंधुता के आधार पर समाज खड़ा होता है। यह रोना है आज समाज का।

इतनी भीषण परिस्थिति में से देश गुजर रहा है। यह जानते हुए भी आपके सामने ये बातें नहीं रख रहे हैं कि हिन्दू-मुस्लिम एकता करो, समाजवाद लाओ, सरकारें बदलो। उसका कोई गम्भीर कारण होगा न! वेदना की अग्नि हड्डी और मांस को भुलसा रही है। और फिर भी आपके सामने बातें रखी जा रही हैं ध्यान की। धन के परे जाने की। यह तो कोई "रोम जल रहा है, और नीरो 'फिडल' बजा रहा है," ऐसी बात नहीं है। कारण उसका एक ही है कि मानव का चित्त अपंग और रुग्ण है। इसका स्वास्थ्य पहले उपनव्य करना होगा। समुदाय में से समाज का जन्म होना हो तो व्यक्ति के भीतर पहले सत्य की और प्रेम की सत्ता प्रतिष्ठित होनी चाहिए। समाज की बुनियाद व्यक्ति है, योजना नहीं, उत्पादन और बंटवारे का हिंसा या राष्ट्रीय आव का लेखा-जोखा नहीं। व्यक्ति खड़ा होना चाहिए। जीवन की वास्तविकता व्यक्ति है और यह व्यक्ति कहीं दिखाई नहीं देता। तन की और मन की स्वस्थता में सहजता से खड़ा सुन्दर मुभग मानव कहीं दिखाई नहीं देता। तो मानवजाति के नाम से योजनाएँ बनाने से, क्षेत्रीय इकाइयों के लिए

देश के और राष्ट्र के नाम से योजनाएं बनाने से, क्या होगा ? संगठन करने से क्या होगा ? इसलिए व्यक्ति के चरण में और शरण में हम आते हैं । उसके प्रति समर्पित होकर उससे बात करते हैं ।

### हम अग्रंग हैं

बहुत नम्रता से हम यह पहचान लें कि हम रुग्ण हैं, हम अग्रंग हैं । इस तथ्य को देखना पड़ेगा, इसका सामना करना पड़ेगा । दिन में सो बार जिनके चित्त में आवेग उठते हैं—कभी क्रोध का, कभी ईर्ष्या का, कभी द्वेष का, कभी घृणा का । ऐसे आवेगों के भूकोरों पर जिनका चित्त डोपता रहता है, और आवेगों की हुकूमत में जिनका व्यवहार चलता रहता है, वे व्यक्ति क्या स्वस्थ कहलाएंगे ? बाहर की गुलामी दिखाई देती है । आंतरिक गुलामी में स्वयं जकड़ा हुआ है, इस बात को मानव कब पहचानेगा ? इसको कब समझेगा ?

जरा-सी सर्दी लगी, ठंडी हवा लगी, तो जुकाम हो गया, गरम हवा में तकलीफ हो गई—तो आप क्या कहते हैं ? यही न कि इस शरीर में शक्ति नहीं, कमजोर है । जीवट नहीं है । अवरोध की शक्ति नहीं है, यही कहते हैं न ऐसे शरीर के लिए । वैसे ही जरा-सी कोई घटना हुई, किसीने कुछ कहा, और यहां हमारे चित्त में लोभ पैदा हुआ । प्रतिक्रियाओं के तूफान उठे, प्रांथी उठी । फिर क्रोध को या तो दबाया, या प्रकट किया । किसीके कोई अच्छे कपड़े देखे, अच्छे मकान देखे, ईर्ष्या जाग उठी । सत्सर जाग उठा । अपनी रुचि और अरुचि के गुलाम हैं हम जो कुछ रुचिकर नहीं है, ऐसा व्यक्ति सामने आया, तो घृणा जाग उठी । विवृण्णा हो उठी । यह कोई चित्त का स्वास्थ्य है ? सारे संसार की गति-विधि पर तो किसीका नियन्त्रण नहीं हो सकता । मनुष्यों के स्वभावों की विविधता पर तो किसी की हुकूमत नहीं चल सकती । लेकिन उन सबके कारण दिन-रात जो व्यक्ति अस्वस्थ रहता है, बेचैन रहता है, वह व्यक्ति नया समाज बनाएगा ? वह व्यक्ति शांति लाएगा समाज में ? धर्म और अध्यात्म लाएगा ?

जो मानसिक रोगी होता है, उसको यदि समझने जाएं कि तैरा

दिमाग ठीक नहीं है' तो वह कहता है, 'मेरा दिमाग तो ठीक है, बाकी सब लोगों का दिमाग ठीक नहीं है।' मन का बीमार अपनी बीमारी कभी पहचानता नहीं है। वैसे ही मनुष्यों से बात करें, तो वे कहते हैं, 'नहीं, मुझे तो क्रोध नहीं आया, परिस्थिति ऐसी थी कि उसने क्रोध पैदा किया। मैं वैसे बहुत स्वस्थ हूँ। वैसे मुझे गुस्सा नहीं आता। दिलाने पर आता है।' अजीब बात है! बुद्धि तो बेचारी बकील है। उसे जिस काम में लगा दो उसकी बकालत कर देती है। समर्थन कर देती है क्रोध का, समर्थन कर देती है द्वेष का, ईर्ष्या का। उसे चाहे जिस काम में लगा दो, चाहे जहाँ खड़ा कर दो। यह जीवन है हमारा। कल शब्द-प्रयोग हुआ था कि जीवन दरिद्र है, रिक्त है भीतर से। और मानव यदि व्यक्तिशः जीवन की समृद्धि और ऐश्वर्य अपने भीतर पैदा करेगा, तो परस्पर मानवीय सम्बन्धों में प्रेम का, समता का, बंधुता का ऐश्वर्य क्या कहीं बाहर से उँटला जाएगा? वह कोई सैण्ट है जो ऊपर से लगाया जाए?

हम अपनी बीमारी को पहचानें। ध्यान एक अवस्था है, जिसमें तन और मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। पांव हैं चलने के लिए। यहाँ से कहीं जाना हो तो पांव हिलाएंगे, कदम उठाएंगे, एक के बाद एक चरण रखते हुए बढ़ेंगे। लेकिन एक ही जगह पर बैठे हैं और पांव हिलाले जा रहे हैं, तो आप क्या कहेंगे? उसी प्रकार मन और बुद्धि का जहाँ उपयोग करना हो, वहाँ करेंगे। चित्त स्वाधीन होगा। 'परबल जानि हंस्यो इन इन्द्रिन निज बस हूँ न हंसै हौं'। हमारा एक भी करण स्वाधीन नहीं है। इन्द्रियों के और आवेशों के स्वाधीन जो रहते हैं, याने पराधीन और गुलाम जो रहते हैं, ऐसे गुलाम कहीं मुक्त समाज बनाएंगे? बीमारी तो यहाँ है, सबाल यहाँ है। मनुष्य के स्वस्थ बनने की चुनौती है। स्वास्थ्य-उपलब्धि की चुनौती है।

यह जो घान्तरिक यात्रा है इसका कोई प्रयोजन हो तो वह प्रयोजन है जीवन के स्वास्थ्य की उपलब्धि। चित्त की निर्विचारता और निर्विकारता कोई शून्यावस्था नहीं है। जड़ता नहीं है। तन्द्रावस्था नहीं है। कोई रिक्तता नहीं है। वह एक ऐसी सहज, स्वस्थ, सुन्दर अवस्था है, कि जहाँ से उठने वाले प्रतिसाद विकृत हो नहीं सकते हैं। वे प्रतिसाद

संतुलित होते हैं।

### ध्यानावस्था की उपलब्धि

ध्यान की अवस्था उपलब्ध होने का उपाय यह है कि सुबह से रात तक का जो व्यवहार चलता है उस व्यवहार में कहां-कहां रुकता है, किस प्रकार की रुकता है, इसको देखें, इसको समझें। यानी जिस प्रकार रोज-रोज स्नान करते हैं, उस प्रकार यदि अपने ज्ञानसंतुष्टों को, स्नायुओं को, आराम देने के लिए, विश्राम देने के लिए, एकाध घंटा आप बैठें, मीन में बैठें, खड़े रहें, चलें, आंखें बन्द करें, आंख खुली रखें, तो वह एक बात है। जैसे मनुष्य स्नान रोज करता है, ताज़गी पाता है। वैसे ही क्रिया के आस्थान में गोता लगाना होगा। लेकिन ध्यानावस्था की उपलब्धि के लिए यह जरूरी है कि चौबीस घंटे में हमारा जो व्यवहार होता है, जो भी कुछ हम करते हैं—काया, वाचा, मनसा, उसकी बया गुणवत्ता या शील है, उसमें कहां कदरूपता है, विरूपता है, कहां उसमें दुर्गन्ध है, इसको देखा जाए। और ऐसे दुर्गन्ध से, विरूपता से भरे हुए हम हैं कि यदि देखने लगते हैं तो घबराहट होती है संवेदनशील व्यक्ति को।

और जिसने यह मन में ठान लिया हो कि यह सब तो मनुष्य-स्वभाव ही है उससे बया कहें। क्रोध आना या द्वेष होना, ईर्ष्या होना, यह सब मनुष्य स्वभाव ही है। मान बैठें कि मनुष्य को पूरी तरह से हमने पहचान लिया है। और यह कि आज की पहचान ही अंतिम पहचान है। यह जिसने मान लिया उसकी खोज तो समाप्त है। उसकी यात्रा तो समाप्त है। जिसके पास जीवन के सभी निष्कर्ष गणित की किताब की तरह तैयार रहते हैं उसका जीना समाप्त है। जीता तो वह है जो देखना, सोचना, समझना चाहता है। जिसका देखना, सोचना, समझना, सीखना अंतिम श्वास तक चलता ही रहता है, वह जीता है। जो सब निष्कर्षों का हिसाब लगाकर बैठे हैं और फिर हर कृति को आदर्श के तराजू में तोलते हैं, उनका तो बया जीना है? ज़िन्दगी हिसाब-नवीसों का काम नहीं। ज़िन्दगी पल-पल में खतरा उठाने वालों का काम है। और समझता की बाजी लगाकर आगे बढ़ने वालों का काम है। आज

तक जीवन के जो आयास हमें मालूम हैं, शारीरिक और मानसिक व्यवहार की पद्धतियां, उनके मूल्यांकन का जो परिचय है, वह जीवन की समग्रता का परिचय नहीं है। इसका भान हो, और चित्त की स्वस्थता हमें आज उपलब्ध नहीं है इसका भान हो, तब खोज शुरू होगी।

कोई बीमार है तो स्वास्थ्य कैसे प्राप्त करेगा ? बीमारी का कारण खोजना पड़ता है। उसका निमूलन करना पड़ता है। शरीर के भीतर स्वस्थ होने की जो शक्ति है उसको मौका देना पड़ता है, उसके रास्ते में जो भड़कने हों, दिक्कतें हों, प्रत्यवाय, विक्षेप हों, उनको हटाना पड़ता है। पही तो रास्ता है, स्वस्थ होने का। औपचियों को शरीर में ठूसना तो कोई रास्ता नहीं। हमारा चित्त व्यक्तियों के व्यवहार से विचलित क्यों होता है ? क्यों शान्ति भंग होती है ? इसको देखें। और जब कोई भी विकार चित्त में उठता है, तब वह स्नायु-विकार पैदा किए बिना नहीं रह सकता। वह संघर्ष या तनाव पैदा किए बिना नहीं रह सकता। कोई दिन के चार घंटे स्नायु-विकार या विसिप्तता में रहता है, तो कोई चौबीस घंटे रहता है। हम और आप, और जो बेचारे मानसिक चिकित्सालयों में बंद हैं, उनमें फर्क परिमाण का ही तो है। गुण (प्रकार) का फर्क नहीं है। आप जानते हैं कि एक पल-भर का क्रोध क्षणिक विसिप्तता पैदा करता है। आखिर विसिप्तता का अर्थ यही है न, सन्तुलन खो जाना। और क्या होगा ? ग्रन्थियां पैदा होना, सम्मोहन पैदा होना ? ऐसा कोई व्यक्ति है जिसे सम्मोहन न हो। आखिर, 'मुझे यह पसन्द है और यह पसन्द नहीं है,' यह पसन्दगी और नापसन्दगी क्या है ? ग्रन्थ नहीं है ? हमारी चित्त की बीमारियों के कितने प्रकार हैं यह खोजना चाहिए। यह नहीं कि ग्रन्थ में लिखा है कि क्रोध भ्राना खराब है, इसलिए क्रोध मुझे नहीं भ्राना चाहिए। क्रोध के हटाने के लिए फिर उपाय करते जाएं तो दूसरे भ्रंश में फँसेंगे। एक तो उलभन बेचारे क्रोध की और फिर दूसरी उलभन क्रोध को हटाने की। क्रोध को हटाने के लिए फिर एक नया प्रवाह हम अपनी चेतना में खड़ा कर दें, तो क्रोध का एक प्रवाह पहले से है ही, और फिर उसमें दूसरा प्रवाह पैदा करें। फिर इनके बीच तनाव आए। और तनाव को संभालते-संभालते हम

जोते धले जाएं । यह कोई चिन्दगी है ?

प्राखिर, व्रत और प्रतिज्ञाओं का प्रयोजन क्या होगा ? व्रतों की और प्रतिज्ञाओं की आवश्यकता और अनिवार्यता घोषित करनेवाले चित्त की क्षणता को धोपित करते हैं । यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि सिर दुखता है तो उससे कहा जाता है कि अस्पिरिन लो, ऐस्प्रो लो, कोडो-पार्सीरीन लो । उसी प्रकार चित्त में विकार हैं, तो फिर ब्रह्मचर्य का पालन करो । क्रोध घाता है तो यह करो—ये सब उसी स्तर की बातें हैं । इससे हम बीमारी की जड़ तक नहीं पहुंचते हैं । इससे बीमारी के निर्मूलन का रास्ता नहीं खुलता है । एक दवा ली तो बीमारी का एक लक्षण हटा और दो दिन के बाद दूसरा लक्षण उठा ।

अपंग चित्तवाले व्यक्ति क्रांति नहीं ला सकते हैं और समाज का निर्माण नहीं कर सकते हैं । और आज यदि इतनी योजनाओं के बावजूद इस जगत् में कुछ होता नहीं है तो उसका कारण योजनाओं की कमी नहीं, मानव की अपनी विवशता है । इस कठोर सत्य को पहचानें और फिर सोचें कि यदि विद्व के नव-निर्माण में कुछ योग देना चाहते हैं तो योगदान का आरम्भ अपने से होगा ।

### विचार और प्रतिक्रिया

जब चित्त में विचार उठते हैं तो किस प्रयोजन को लेकर उठते हैं ? विकार उठते हैं तो किस प्रयोजन को लेकर उठते हैं ? हमने कहा न देखें । तो कैसे देखें हम ? देखना कैसे होता है ? देखने का आशय क्या है ? जैसे वहां बंठे हैं और विचार उठा कि कल क्या होगा, कल क्या हुआ या यह विचार मन में आया । इसका मतलब है कि इस क्षण पर से चित्त हटकर इधर-उधर भटकने लगा । तो क्यों भटका ? या तो जो सुन रहे हैं वह समझ में नहीं आया । भाषा कुछ कठिन है या उसमें क्या-कहानियां नहीं हैं । अन्योक्तियां नहीं हैं, उपाख्यान नहीं हैं । सोची-सादी बात जैसी उठी, वैसे सामने रखी जा रही है । उसमें कोई सजावट, शृंगार नहीं है । तो अच्छा नहीं लगता, मन लगता नहीं है । जैसे लोगों को बिना मिच-मसाले के भोजन में रुचि नहीं आती, वैसे चित्त को इस

निराभरण अभिव्यक्ति में रुचि नहीं आती। इसलिए मन उचट गया। वर्तमान क्षण में जी रहे हैं, उसमें रस नहीं आता, तभी चित्त भटकता है। या उसमें रस लाने के लिए चित्त पर जोर लगाना पड़ता है तब चित्त भटकता है। वह विद्रोह करता है। क्यों तहीं करेगा? आफिस में बैठा हूँ। काम कर रहा हूँ। चित्त भटकता है। चित्त के इस भटकने को हम नाम देते हैं कि मैं विचार कर रहा था। मैं सोच रहा था। यह विचार नहीं है, यह सोचना नहीं है। यह प्रतिक्रिया है। बहुत सारी मानसिक क्रियाएं, जिन्हें हम विचार का नाम देते हैं, विचार नहीं होते, प्रतिक्रियाएं होती हैं।

हमको इसका परिचय नहीं है कि विचार क्या है, और प्रतिक्रिया क्या है। यह विवेक हमने कभी किया नहीं। यह हमें सिखाया ही नहीं गया न, कि जो कुछ चित्त में चलता है, उसे पहचानें तो। 'मैं विचार कर रहा था' कहते हैं, और खेलते हैं स्मृति से। स्मृति से खेलना कोई चिंतन है? कोई सोचना है? आगे के सपने देखना कोई सोचना और विचारना है? विचार और भावना का फर्क भी हम नहीं जानते। स्मृति के साथ संभोग करते रहना कोई चिन्तन नहीं है। यह तो व्यसन है। धाराव का व्यसन होता है। और भी व्यसन होते हैं। यह दुराचार है। लेकिन इसको दुराचार और व्यसन के रूप में क्या कोई पहचानता है? क्या कभी कोई अपने को अपराधी समझता है? क्या कभी कोई अनुभव करता है कि वह किसी परम पवित्र वस्तु को मर्यादा भंग कर रहा है? तो अपने चित्त की गतिविधि को देखें और समझें।

इसी समय एक बात साफ कर दूं। यहां आत्म-निरीक्षण या विश्लेषण की बात नहीं रख रही हूँ। क्रोध आया तो क्यों आया? क्रोध का तात्कालिक कारण क्या है? माता-पिता से कितना क्रोध विरासत में पाया है? फिर शिक्षक कैसे मिले थे? फिर समाज ने क्या किया था? इस प्रकार की जो कारण-मीमांसा है, या विश्लेषण है, इसकी बात हम नहीं कर रहे हैं। देखना तो यह चाहिए कि क्रोध का आवेग उठा तो उसने क्या-क्या मेरे साथ किया? नसों में तनाव तत्क्षण कैसे पैदा हुआ? प्रतिरिक्त उष्णता कैसे शरीर में पैदा हो गई? वह दिमाग की तरफ

कैसे दौड़ने लगे ? घाँसों की नसों पर कितना तनाव पड़ा ? घाँसों में कैसे सिकुड़न होकर एक तनाव पैदा हो गया ? सारे ज्ञान-तंतुओं में कैसे क्षोभ हुआ ? क्रोध की समस्त क्रिया को भी कभी हमने देखा है ? और सन्तुलन खोकर प्रादमी ऐसा कभी कर बैठता है जिसपर बाद में शर्म आए । तो दिन में कितना समय स्वस्थता में और कितना समय अस्वस्थता में जाता है, इसको जरा पहचानें ।

### एक भ्रम

सार्वजनिक जीवन का अध्यात्मोत्थान बहुत दूर की बात है । इस देश में आध्यात्मिक भाषा घटि सुलभ होने के कारण भ्रम हो गया है कि हम धर्म और अध्यात्म जानते हैं । खाक जानता है यह देश अध्यात्म और धर्म ! ग्रन्थों की उधार बातें तोते की तरह दुहराने से मानव धर्म-प्राण नहीं बनता है । और उसकी व्यथा है हमारे हृदय में । इसलिए कहते हैं कि नई मानवजाति का जन्म होना अनिवार्य है । नये मानव का जन्म होना अनिवार्य है और वह जन्म मानसिक स्तर पर हो नहीं सकता है । और मानसिक स्वास्थ्य को बिना प्राप्त किए मन से परे जाना नहीं होता है । जैसे रुग्ण चित्त लेकर समाज-मुघार और समाज-क्रांति नहीं होती, उसी प्रकार रुग्ण चित्त से मन से परे जाने की जो घटना है वह घट नहीं सकती ।

चित्त की स्वस्थता में ही संक्रमण संभव है । और मन से परे, विचार से परे, जो चेतना का साम्राज्य है, जिसमें जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध प्रतिष्ठित हो जाता है, जिसमें प्रेम का प्रवाह फूट पड़ता है, 'मैं' और 'तू' का अन्तर मिट जाता है, चेतना की वह अवस्था — वह ध्यानावस्था जहाँ द्वन्द्वातीत दर्शन भी है और द्वन्द्वातीत व्यवहार भी, वह अवस्था प्राप्ति का विषय नहीं है । चित्त को कितनी ही प्रक्रियाएँ सिखाओ । मंत्र दो, तंत्र दो, चाहे जो दो । मन से परे जो पहुँचा जाता है, जो संक्रमण घटित होता है, वह चित्त की स्वस्थता के बिना संभव नहीं । वह तब तक नहीं होगा जब तक चित्त स्वस्थ न बनाएँ । जीवन होने में है, करने में नहीं । करने में अहंकार की पुष्टि है, होने में समग्रता का स्वावलम्बन है ।



## चित्त की स्वस्थता

चित्त स्वस्थ नहीं है, इसका कारण कहीं यह तो नहीं है कि शरीर की बीजा के तार ठीक नहीं हैं ? बहुत कसे गए हैं या बहुत ढीले हैं ? तो उसको प्राप ही ठीक कर सकते हैं। अब दूसरा कोई उसे कैसे ठीक करे ? यह तो अपने-अपने सोचने की बात है। मनुष्य को घादत पड़ गई है कि 'दूसरा बतलाए, फिर मैं कल'। इसकी क्या ज़रूरत ? क्या नादान ही रहना है खिन्दगी भर ? कि दूसरा बताए और हम करें ? मनुष्य बंधना ही चाहता है, घात्मनिर्भर बनना ही नहीं चाहता। परिपक्वता तो यह है कि समझा और किया। हमको कोई मार्ग-दर्शक मिले, शिक्षक मिले, वह बतलाए, फिर उसके चरणों में हम झुकें—इस सबकी कोई ज़रूरत नहीं।

इतनी परिपक्वता आज बीसवीं शताब्दी के मानव में है कि चित्त स्वस्थ नहीं है तो इसके कारण कहां हैं, यह पूछ सके, और चित्त को स्वस्थ कर ले। दूसरों के कहने पर जो किया जाता है उसमें निजी अन्वेषण नहीं होता। इसीको तो उधार-खाता कहते हैं। और जीवन वह जीता है जो पल-पल में खुद खोजता है और पाता है। देखना ही पाना हो जाता है। तो दूसरों ने कहा, इसलिए हमने किया, ये यम-नियम लिखे हैं, ये सात्त्विक माहार हैं, ये राजसिक हैं, व्याख्या पढ़ ली, फिर किया। इसका मतलब है कि मैं जब अन्न खाता हूँ, तो उसका परिणाम शरीर पर क्या होता है, इसको मैं देखता नहीं हूँ। उसे देखूँ तो मेरी ही समझ में आ जाए कि ये अनुकूल हैं, और ये प्रतिकूल। चित्त की अस्वस्थता के कारण यदि शारीरिक हैं, माहार-विहार की सदोषता है, तो उसको ठीक कर देना चाहिए।

उसके ठीक होने के बाव भी चित्त स्वस्थ नहीं है, चित्त की दृग्गता है, तो कहां-कहां है, क्यों है, कब-कब उठती है, यह देखना चाहिए। तो प्रसन्न बात यह है कि दूसरे मनुष्यों के, व्यक्तियों के, व्यवहार से ओष आता है, या ईर्ष्या होती है, यह तथ्य नहीं है। तथ्य तो यह है कि मनुष्य का जो अहंकार है वह बड़ा प्रबल है, गहन है, जटिल है, गम्भीर है।

और उसका जीवन अहंचालित है। सारी दुनिया से उसकी एक ही अपेक्षा है कि उसके अहंकार के अनुकूल सबका व्यवहार हो और अहंता की अपेक्षा की पूर्ति को वह सुख समझता है। अहंता की अपेक्षा की पूर्ति नहीं होती तो उसको दुःख कहता है। जड़ तो यही है। वह चाहे श्लोष हो, चाहे ईर्ष्या हो, घृणा हो, वितृष्णा हो—कारण एक ही है। जैसे जितने भी व्याधि शरीर में हैं, उनका मूल कारण प्रायुर्वेद में 'कुपित मल' को बताया गया है; रोगों की, व्याधियों की, बीमारियों की जड़ कुपित मल में है। उसी प्रकार यह 'कुपित अहं' जड़ है चित्त की रुग्णता की। सारा जीवन मेरे अहंकार के केन्द्र के इर्द-गिर्द नाचता रहे, यह जो दृष्टि है, इसीमें जहर है।

जीवन को देखने की हमारी दृष्टि विषाक्त है। इस विष की आंच से यह रुग्णता पैदा होती है। इसीलिए तो प्रेम का जन्म नहीं होता है न। क्योंकि जिसकी सारी दृष्टि इसी पर है कि इसमें मुझे कितना सुख मिलेगा, उसका दूसरों के साथ कोई भी सम्बन्ध कैसे हो सकता है? वह वस्तु को और व्यक्तियों को अपने सुख का साधन समझेगा। उनके साथ जीकर सहजीवन में से आनन्द उपलब्ध करने का अवसर वह नहीं पाता। वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति सबमें से रस निचोड़ना चाहता है सुख का, यानी अपने अहंकार की तृप्ति का। देखो कैसा जीवन है! अपने आन्तरिक जीवन की दुर्दशा को देखें।

### जीवन की नग्नता

इस नग्नता को कोई देखना नहीं चाहता। इसे आवरणों में ढक देना चाहता है। पति का पत्नी के साथ सम्बन्ध, माता-पिता का सन्तान के साथ सम्बन्ध, तथाकथित मित्रों का सम्बन्ध—ये सब क्या हैं? इसलिए जीवन के प्रति और व्यक्तियों के प्रति हमारा आदरभाव नहीं है। वह आ ही नहीं सकता, जब तक दृष्टि में यह विष है। हमारा सहजीवन होता नहीं है। हरेक अपनी-अपनी अहंता की कैद में है। और ऐसे कैदियों के सह-अवस्थान में से क्या सहजीवन बनेगा? क्या समाज बनेगा? इसलिए इस अहंता से मुक्त होकर मानव उस मुक्ति के साम्राज्य में

रहे—यही प्यास हमसे बुलवाती है।

आपको झुकभोर कर कहना चाहते हैं कि बंधन में हो, मुक्त हो जाओ। और मुक्ति का रास्ता एक ही है कि बंधन कहां है और कैसा है, यह पहचानो। बन्धन का स्वरूप और आशय समझना ही मुक्ति का जन्म है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। बन्धन और मुक्ति परस्पर विरोधी नहीं हैं। मुक्ति कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं है—जिसको प्राप्त करने जाओगे, बन्धन के परिचय में ही मुक्ति का प्रारम्भ है।

अहंता अपेक्षाओं का पुंज है। अपेक्षाओं का घनीभूत पुंज ही अहंता है। और यह मुख और दुःखों के आसपास दुनिया को घुमाता रहता है, आनन्द के पास फटकने नहीं देता है—आनन्द, जो सृष्टि का मूल स्रोत है।

फर्क तो आप पहचानते होंगे न, आनन्द और सुख में? सागर के किनारे खड़े हैं, घने जंगल में खड़े हैं, नदी के किनारे खड़े हैं, कहीं एकांत में—या रात्रि के पुनीत अन्धकार में नीरव आकाश के साथ खड़े हैं। तो पल-भर के लिए अहंता की हस्ती मिट जाती है। सागर की लहरों के और आपके बीच एक अपूर्व संबंध उदित हो जाता है। आकाश के तारों और चांद के और आपके बीच एक सम्बन्ध उदय होना चाहता है, एक फूल खिलना चाहता है। एक क्षण-भर को उदय होता है कि नहीं होता है—इतने में मन आधा बीच में, कह दिया, 'आह, कितना सुन्दर है। सुख हो रहा है।' यह कहने में भीतर वासना यह है कि यह मुझे और मिलना चाहिए, यह मुझे और मिलना चाहिए। तो आनन्द में से वह सुख की राख पैदा कर देता है। शुद्ध आनन्द में रहने नहीं देता है अहंकार। उसको सुख में बदल देता है और फिर कहता है, 'उसको मैं रखूंगा! अभी की इस घटना को नहीं रख सकता तो स्मृति को रखूंगा। और फिर यह जो संयोग है इसको दुबारा पैदा करने की कोशिश करूंगा।' और उस संयोग को दुबारा पैदा करने के प्रयास को पुरुषार्थ कहा जाता है। और परिस्थिति के संयोगों को अपने कानू में रखने वालों को सफल व्यक्ति कहा जाता है। यह सब कैदखाने की सजावट, शृंगार है और कुछ नहीं। इसलिए वित्त की अस्वस्थता की जड़ अहंकार में है जो कि अपेक्षाओं का घनीभूत पुंज है। यह कोई 'गाडियन नॉट' नहीं है कि

सिकन्दर तोड़ देगा तलवार से । अपेक्षा से सुख हो सकता है, आनन्द की उपलब्धि नहीं । यह पहचानने में आ जाए कि अपेक्षा से सहजीवन नहीं हो सकता है, सह-अवस्थान ही हो सकता है—यह समझ में आ जाए । प्रेम और सहजीवन तो दो अिन्दा ब्यक्तियों में ही होगा, मूर्च्छितों और बेहोशों के बीच कहीं प्रेम और सहजीवन संभव है ?

यह जब पहचान में आएगा तो वस्तुओं के प्रति और व्यक्तियों के प्रति व्यवहार बदल जाएगा, दृष्टि बदल जाएगी । फिर आप कपड़ों के प्रति क्रूर नहीं हो सकेंगे । कपड़ा भी हाथ में उठाएंगे, और पहनेंगे, धोएंगे, तह करके संवार करके रखेंगे । उसमें आएगा सौन्दर्य, उसमें आएगी कला । क्योंकि वे साधन नहीं हैं, वे उपकरण नहीं हैं, आपके वे साथी हैं । शीतोष्ण से संरक्षण देने वाले वस्त्रों के साथ प्रेम का, सुजनता का व्यवहार करने वाले वहुत कम देखे हैं ।

आपने देखा है कभी अहंकारी व्यक्ति का जीवन ? वस्तुओं के साथ, व्यक्तियों के साथ उसका व्यवहार देखा है ? उसके आसपास प्याज के दर्प से अधिक दर्प होता है । उसके जीवन में वस्तुएं उपेक्षित हैं, व्यक्ति उपेक्षित है, सर्वोपरि प्रभुत्व है उसके अहंकार का । अहंकार के तांडव-नृत्य में सब जीवन कुचल जाता है । स्व-केन्द्रित और अहंचालित जीवन हमपर कितना बड़ा वन्धन है, इसको हम पहचानें । हम अहंकार के कैदी हैं, उसके बंदी हैं ।

जीवन में से सारी कोमलता निकल गई है । सुभगता नष्ट हो गई है । सुन्दरता अस्त हो गई है । शुचिता निःशेष हो गई है । संगलता कही नहीं रह गई है । कितने प्रकार से कोमलता का नाश दिखाई दे रहा है ? यह एक करुण कहानी है । एक विदारक कहानी है कि मानव कितना संवेदनाशून्य बनता जा रहा है । लेकिन संवेदनाशून्यता की जड़ अहंता में है, यह तात्पर्य हम ध्यान में रखें ।

**अहंता की व्याधि**

किसी में कम है। परन्तु प्रेम है चेतना के सभी क्षेत्रों में, सभी पहलुओं में संवेदनशीलता। आखिर प्रेम क्या है? उन्मुखता और संवेदनशीलता की समग्रता में स्पन्दित होना। प्रज्ञा संवेदनशीलता ही है। मनुष्य जीवन में गति का जो तत्त्व है, वह संवेदनशीलता ही है। और कोई दूसरा गति तत्त्व नहीं है। विचार और विकारों की गति जीवन की गति नहीं है। जीवन की प्रसली गति संवेदनशीलता है। विशुद्ध संवेदनशीलता में जो चरम गति है, उसीका नाम प्रेम है।

लेकिन मैं प्रेम शब्द का उपयोग करती हूँ बहुत अभिभूत के साथ। लोगों ने उसके भी इतने सिद्धान्त बना लिए हैं। उसकी व्याख्या भी कर दी है! भगवान् की व्याख्या करता हूँ मानव, तो प्रेम की क्या नहीं करेगा? उसकी अहंता की कोई सीमा है। वह जीवन की समग्रता की भी व्याख्या करके रखता है। ऐसे समग्रता की व्याख्या करने वाले को याप समझदार कहेंगे? व्याख्या हो भी सकती है? दिन की व्याख्या करो, रात की व्याख्या करो। जिसके स्वरूप में दिन और रात दोनों समाए हुए हैं, उसकी क्या व्याख्या करोगे? सद्गुण की व्याख्या करो, दुर्गुण की व्याख्या करो। सद्गुण और दुर्गुण दोनों जिस घरातल पर खड़े होते हैं, उस विशुद्ध सत्ता की क्या व्याख्या करोगे? क्या वर्णन करोगे?

अपेक्षाओं का पुंजीभूत जो अहं तत्त्व है, यही व्याधियों की जड़ है। और मन और बुद्धि के द्वारा जो भी क्रिया होगी उससे अहंकार को ही पोषण मिलेगा। क्रियाओं को शान्त होने देगे तो अहंकार का पिघलना शुरू होगा। साधना के नाम पर किसी भी प्रकार का मन का हलन-चलन पैदा न करें, नहीं तो संसार के हलन-चलन से हटकर साधना के नाम पर हलन-चलन का एक नया संसार खड़ा कर देते हैं। एक नया विषय खड़ा कर देते हैं। उसमें नये सम्बन्ध बनाते हैं। उसमें नई लीकें बना लेते हैं। लीकों में बंधा हुआ तो बंधा हुआ ही है। वह संसार के नाम पर लीक बनाकर और एक पद्धति बनाकर उसमें जकड़ा जाता है, या अध्यात्म के नाम पर पद्धति बनाकर उसका गुलाम बनता है, इसमें फर्क क्या रहा? गुलामी तो गुलामी ही है। पिजड़ा सोने का हो या लोहे

का, फर्क नहीं पड़ता । मन के हलन-चलन के लिए नया संसार खड़ा न करें । मन की क्रियाओं के शान्त होने में ही जीवन के नये आयाम का जन्म है । मौन एक नया आयाम है । परिमाण है । उसका जन्म तब होगा जब ये शान्त होंगी । क्रियाओं के शान्त होने में अपेक्षाओं का पुंज धीरे-धीरे गल जाता है, उसका द्रवीकरण शुरू हो जाता है । जो घनी-भूत है—वह द्रवीभूत होने लगता है ।

आज की प्रभात में यहीं तक आपको लाना था ।

## द्वितीय प्रश्नोत्तरी

२२-१२-६६

**महत्त्वाकांक्षा क्या है ?**

**प्रश्न—**महत्त्वाकांक्षा न रहे तो प्रगति कैसे होगी ? और व्यवहार की कक्षा से बाहर गए बिना महत्त्वाकांक्षा छूट नहीं सकती । संसार की सारी प्रगति तो महत्त्वाकांक्षा पर है । तो क्या करें ?

**उत्तर—**महत्त्वाकांक्षा का अर्थ क्या है ? और प्रगति का क्या अर्थ है ? इन दो बातों की सफाई होनी चाहिए । मैं आशा करती हूँ कि प्रश्न जिन्होंने पूछा है उनके भीतर से उठा है । प्रयाधारित, पंचाधारित प्रश्न जिज्ञासा नहीं है । जिज्ञासा एक जलती हुई ज्योति है । और जीवन जीते-जीते जहाँ दिक्कत पैदा होती है, कठिनाई आती है, वहाँ पर फिर जिज्ञासा ठिठककर सवाल खड़ा करती है । बौद्धिक या भावनात्मक उत्तेजना में से या प्रतिक्रिया में से उठी हुई प्रश्नमालिका जिज्ञासा नहीं कहलाती । कोई भी जिज्ञासा उठती है, प्रश्न जीवन में से उठता है—तो प्रसव-वेदना से अधिक वेदना में से व्यक्ति को गुजरना होता है । हाड़-मांस में से वह उठती है । तो, सवाल यह है कि महत्त्वाकांक्षा का अर्थ हम और आप क्या समझते हैं ? कुछ समझना है या सीखना है—इस इच्छा को महत्त्वाकांक्षा नहीं कहते । जीवन का अर्थ समझना है । सत्य क्या है, शिव क्या है, सुन्दर क्या है, इसको समझना है, देखना है । यहाँ सीखने की जो इच्छा है—इसमें महत्त्वाकांक्षा का कोई संबंध नहीं है । सीखना एक ऐसी जादूमरी चीज है कि सीखने में से मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का विकास होता है ।

ये जो विद्यार्थी हैं, यानी विद्या जिनका धर्म है—इष्ट है, उनको तो हम महत्वाकांक्षा या महत्वाकांक्षी—इन शब्दों से संबोधित नहीं करेंगे। सीखने की इच्छा और प्रेम—दो में प्राप्त करने की कोई वासना नहीं रहती। प्रेम अभिव्यक्ति में परितृप्त होता है। और जिज्ञासा सत्यशोधन में परिपूर्ण हो जाती है। जिज्ञासा की परिपूर्ति सत्यशोधन में, और प्रेम की परिपूर्ति अभिव्यक्ति में है। जहां यह निर्द्वंद्व व्यवहार चलता है, वहां महत्वाकांक्षा नहीं है।

मनुष्य जिज्ञासु रहे, तो जी पाता है। जिज्ञासा का जीवन से संबंध है। जीने से संबंध है। महत्वाकांक्षा क्या है? यह मैं प्राप्त करूं। यह मैंने प्राप्त किया है, यह दूसरे लोग देखें। या प्राप्त किया है, इसलिए प्रतिष्ठा मुझे दें। पैसा प्राप्त हुआ है—संपत्ति प्राप्त हुई है—तो संपत्ति की जो सत्ता है समाज में, उसका विनिमोग करके दूसरों पर हुकूमत चलाएं। वस्तुओं पर हुकूमत चलाएं। व्यक्तियों पर हुकूमत चलाएं। विवाह हुआ है, पति प्राप्त किया, पत्नी प्राप्त की। तो हुकूमत चलाएं। जहां प्राप्त, संग्रह और सत्ता की अभिसंधि है, वहां महत्वाकांक्षा शब्द का प्रयोग होता है।

और संसार में जितनी प्रगति हुई है—वह प्राप्त के लोभियों ने नहीं की है। संग्रह के लालचियों द्वारा समाज में प्रगति नहीं हुई है। चाहे धर्म की हो, चाहे विज्ञान की हो। कोई कोपरनिकस और कोई न्यूटन और कोई फ्राइन्स्टीन सत्ता-मत्ता या प्रतिष्ठा के लोभी-लालची नहीं रहे हैं।

यह तो जो औद्योगिक क्रांति आई योरप में, फिर अमेरिका में गई, उसका एक डंका बना, उसको दुनिया के सभी देशों के जनमानस ने धपनाया; वे कल्पनाएं, सोचने की पद्धतियां स्थिर हो गईं। महत्वाकांक्षा और यह जो मुनाके की प्रेरणा है—अनर्थकारी ये जो दो बातें हैं इनको प्रतिष्ठा मिली है औद्योगिक क्रांति के बाद। यानी पहले नहीं थी—ऐसा नहीं कहती हूं। लेकिन अब ये सामाजिक मूल्यों के रूप में, प्रायिक मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित हो गई हैं।

हम समझते हैं कि महत्वाकांक्षा के बिना प्रगति नहीं। विज्ञान का बोध करनेवाले जो थे, जो रहे हैं, या धर्म या अध्यात्म के क्षेत्र में सत्योप-



लब्धि के लिए समग्र जीवन की बाड़ी चढ़ाने वाले जो सत्यशोधक हैं, वहां महत्वाकांक्षा का कोई संबंध नहीं है। कोई भी खोज महत्वाकांक्षा से यदि दूषित हो, तो उसमें से प्रगति या विकास नहीं हो सकता।

व्यवहार में हम कैसे रहें ? जैसे हैं, वैसे रहने का साहस करें, तो जी पाएंगे। जो हैं नहीं, वह दिखाने की, जो हैं नहीं वह बनने की कोशिश में जिन्दगी की सारी शक्ति लगा देंगे—तो दंभ, पाखंड या असंतोष के सिवा हाथ कुछ नहीं लगेगा। जिस रुग्ण चित्त और अस्वस्थता की बात सबेरे कही गई, उस रुग्ण चित्त में से जो जीवन का मूल्यांकन हुआ है, और प्राथमिकताओं का क्रम बना है, उसको कोई धर्मजिज्ञासु, कोई सत्यजिज्ञासु, कोई क्रांतिकारी कैसे स्वीकार करेगा ? उसे यह मूल्य-विधान कैसे स्वीकार होगा ?

मन से परे जाने की बात करते हैं। धर्म की, अध्यात्म की बात करते हैं। यह तो वीरों का काम है। अध्यात्म और धर्म ही नहीं, जीना भी तो वीरों का काम है। कायर जी नहीं पाता। बच-बच के, डर-डर के जो रहता है, वह क्या जी पाएगा ? उन्मुक्तता में जीवन की खुशबू है।

व्यवहार में कैसे रहें ? जैसे हैं वैसे। अपनी आवश्यकताएं क्या हैं, कितनी हैं, यह तय करें। समाज में दहशतारबाजी के कारण उपभोग्य पदार्थों का जो विज्ञापन होता रहता है और भावनाओं को, वासनाओं को भड़काकर जो अपने माल के लिए बाजार बनाते हैं—उनके शिकार न बनें। शोषण और हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले समाज के मूल्यांकन को स्वीकार करके अधिक पैसा, अधिक प्रतिष्ठा, इस प्रकार की जो पागल स्पर्धा है, होड़ है, उसमें न चले।

### धर्म-ग्रन्थों का महत्त्व

प्रश्न—यदि किसीने कृष्णमूर्ति को नहीं सुना, और किसीको नहीं सुना; धर्मग्रन्थों के आधार से शांति पाई, अनुभव पाए; तो ऐसा करने में हानि क्या है ?

उत्तर—कुछ हानि नहीं है। हम जैसे व्यक्तियों के प्रवचन सुनने ही नहीं चाहिए। हम तो विद्रोही हैं। एकाघ जीसस, एकाघ महावीर, एकाघ

बुद्ध, एकाध रामकृष्ण परमहंस, एकाध रमण महर्षि—जितनों ने सत्य की खोज की और उपलब्धि की, वह शास्त्रों के आधार पर नहीं की। शास्त्रों को अलग रखकर अपनी अंतःप्रेरणा के आलोक में जो लोभ चले, उन्होंने कुछ पाया। शास्त्रों के और ग्रंथों के आधार से चलते, तो जीसस शूली पर न चढ़ते और सुकरात को जहर का प्याला न पीना पड़ता। न रमण महर्षि को शास्त्रियों के और विद्वानों के उपहास का विषय बनना पड़ता। काव्यकंठ गणपतिमुनि जब तक उनके पास न गए, तब तक समाज ने उनका कोई कम मजाक नहीं उड़ाया। और रामकृष्ण तो बेचारा निरक्षर ही था। सवाल ही नहीं था उसका। कौन कहता है कि शास्त्रों के और पोथियों के पन्ने निचोड़-निचोड़ कर अनुभव प्राप्त होते हैं। यह तो कुरेदना पड़ता है, भीतर खोदना पड़ता है।

पह नहीं कहती हूँ कि सारे शास्त्र और ग्रंथ उठाकर जला दें, या समुद्र में फेंक दें। शास्त्रों का और धर्मग्रंथों का आधार जितना घातक है, उतना ही निषेध भी घातक है। निषेध की भाषा जैन-बौद्धों ने बहुत चलाई। निषेध और खंडन का ही एक संप्रदाय बन गया। पढ़ना हो वे पढ़ें। जो पढ़ना जानता हो, वह पढ़े।

शब्द तो अग्नि-तत्त्व है। ग्रंथों को पढ़ना खेल घोड़े ही है? एक-एक शब्द प्रतिक्रिया पैदा करता है। वाक्यों में से प्रतिक्रियाओं के जाल पैदा होते हैं, उनमें पांव फंसने न दें, शब्दों पर अपना अर्थ, अपनी भावना, अपनी अरुचि, अपनी राय, अपने निष्कर्ष न ला दें—शब्दों को बोलने दें, अर्थ खोलने दें, अपने आप। ऐसे शून्याकार चित्त से कोई पड़ता है? इस दृष्टि से पढ़ते हैं कि इसमें कितना अपने अनुकूल है, कितना प्रतिकूल पड़ता है। कितना अपनी भावनात्मक, बौद्धिक सामर्थ्यालियों की पोषण मिलता है। इसी दृष्टि से पढ़ते हैं। जिन्होंने खोजा, उन्होंने पाया। उचारी का सौदा सत्य के क्षेत्र में चलना ही नहीं है। न प्रेम में उचारी चलती है, न सत्य में उचारी चलती है।

आखिर यही न कहना है कि धर्मग्रंथों का और उनके प्रतिपादित रास्तों का जो प्रामाण्य है, उनकी जो अनुज्ञा है, उसको मान लेने में हर्ष क्या है? हानि क्या है? हानि यह है कि आप खोज नहीं कर पाएंगे।

यात्रा नहीं हो पाएगी। व्यक्तिगत आविष्कार नहीं हो पाएगा। ग्रंथ हो या व्यक्ति हो—उसके शब्द को प्रमाण मानने पर उसकी अनुभूति से हमारी यात्रा और हमारी खोज सीमित हो जाती है। देखें, सुनें, समझें। यह ठीक है।

किसी भी व्यक्ति के जीवन से, उसकी अनुभूतियों से न सत्य को मर्यादित करें, न अपनी खोज को मर्यादित करें। फिर वह कृष्णभूति हों या और कोई हों।

और यह प्रमाण मानने की इच्छा क्या है? यह नम्रता का प्रतीक नहीं है कि हम किसी को प्रमाण मानते हैं, किसी का प्रमाणित मंजूर करते हैं। इसमें विनम्रता का कोई संबंध नहीं है। यह परिश्रम करने से बचना है। सुरक्षा का मोह है। घात्मदीप बनें। तब उसके आलोक में जीवन जिया जा सकता है।

मैं तो यह नहीं कह सकूंगी कि मैंने कोई शास्त्रग्रंथ पढ़े ही नहीं। या साधु-संतों के संगत में कभी रही ही नहीं हूँ। ऐसा तो नहीं है। लेकिन किसीकी खोज में से सत्य के प्राण को मर्यादित नहीं होने दिया। किसी व्यक्ति के हाड़-मांस, उसके रूप, उसके गुण, उसके ध्रुवगुण, उसकी अनुभूति, उसकी अभिव्यक्ति,—इन सबको देखने पर भी उनसे अपनी खोज को बाधित नहीं होने दिया। इतना यदि कर सकते हैं तो ग्रंथ पढ़ें, पंथ देखें।

ग्रंथ पढ़ना जितना मुश्किल है न, उससे अधिक मुश्किल सत्य की अनुभूति में जलने वाले के साथ रहना है। निरंतर प्रदीप्त अग्नि की आंच सही नहीं जाती। संसार का जाड़ा लगता है तो थोड़ी देर हाथ सँकने के लिए उसके पास बैठना, यह बात अलग है।

ये शब्द बड़े सस्ते हो गए हैं—‘धर्मग्रंथ’, ‘शास्त्र’, ‘संत’, ‘ऋषि’, ‘मुनि’, ‘सहवास’, ‘सान्निध्य’। शरीर के पास जाकर बैठने से सहवास होता है? शब्दों को, विचारों को दोहराने से सान्निध्य होता है? ये इतना आसान नहीं है जो अहंकार की कंद से मुक्त नहीं ही पाते, वे सहवास और सान्निध्य कर नहीं पाते।

### शांति कैसे मिले

प्रश्न—इतने संत, ऋषि-मुनि हुए, सब-कहते आए—और फिर भी

जीवन में संतुलन नहीं है, शांति नहीं है। ऐसा क्यों है ?

उत्तर—वे तो हुए बेचारे। हमने तो उनकी दुर्गति बतलाई कि जिस किसीने जो भी समाज में तत्कालीन मान्यताएं थीं, रूढ़ियां थीं, संप्रदाय थे, इनको किनारे रखकर जीने का साहस किया। उनको क्या-क्या सजा समाज देता गया है। दो-चार ही नमूने बतलाएं। लेकिन अनगिनत होंगे। अज्ञात भी तो कई बीर होंगे। जो शहीद हो गए होंगे इस रास्ते पर। समाज ने कब चिन्ता की है ? इन लोगों के पास जाकर मालाएं चढ़ा दीं, चरण छू लिए, तो धाप समझते हैं कि समाज ने उनकी बातें सुनीं ? दो हजार वर्ष होने को जाए जोसस को। देखिए, तथाकथित ईसाई देशों को। उनका ग्रंथशास्त्र देखिए, उनकी राजनीति देखिए। कहते हैं कि ईसा का 'शिखर-उपदेश' (सरमन ग्रॉन दी माउण्ट) पढ़ने के लिए ठीक है, लेकिन जोसस कोई ग्रंथशास्त्री नहीं था।

२ अक्टूबर को मैं लंदन में थी। गांधी जयन्ती पर बोलना था। किसीने हमसे कहा कि गांधी जो जिस देश में हुए हैं उस हिन्दुस्तान को इतनी दुर्गति ! गांधी को मानने वाले देश की यह दुर्गति ! मैंने कहा, "हां, गांधी को भारत के लोग उतना ही समझे हैं जितना धाप लोग जोसस को समझ पाए हैं।"

तो 'ऋषि-मुनियों को सुना' यानी हमारे मतलब की कितनी बातें उनसे मिलती हैं—यह हमने देखा। उनकी सेवा करने के सौदे में यदि कुछ प्राप्त होता हो, बिना परिश्रम के मुक्ति मिलती हो, कुछ सिद्धियां मिलती हों, संसार की आपत्ति-विपत्ति से संरक्षण मिलता हो, व्याधि का निराकरण होता हो,—यह सब पाया।

मन से परे जाना, उन्मनी में जीना, उसको कुछ सामाजिक या आर्थिक मूल्य माना है, समाज ने ? किसी का समाधि में देख लिया— "यो हं हो हो—बहुत बड़ी उपलब्धि है"—कहकर गौरव कर लिया, पांव छू लिया, लेकिन वह जीवन का प्रायाम है, ऐसा किसीने माना ? नहीं माना। इस सत्य को स्वीकार करना होगा कि इसका कोई सामाजिक-आर्थिक मूल्य है। यह जीवन का एक प्रायाम है जिसमें प्रत्येक मानव को जीना है। समस्त मनुष्य जाति को मन और बुद्धि से ऊपर

उठकर उन्मनी की तरफ जाना है। निविचार और निविकार अवस्था में जीना है। इस तथ्य को जब तक सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करते तब तक ये ऋषि-मुनि तो होते ही रहेंगे, बोलते ही रहेंगे।

शांति और संतुलन नहीं आया, इसका एक कारण यह है कि इन ऋषि-मुनियों का, इनकी खोज का, इनकी यात्रा का और इनकी उपलब्धि का कोई सामाजिक मूल्य है—मह माना नहीं गया। मन से परे जाने के बाद जो जीवन जिया जाता है—जो सत्ता वहाँ पाई जाती है—उस सत्ता के आघार पर भ्रष्टनीति या राजनीति खड़ी हो सकती है यह किसीने नहीं माना। तो, एक तरफ ये ऐसे इक्के-दुक्के व्यक्ति होते रहे, और दूसरी तरफ समाज की व्यवस्था, भ्रष्ट-व्यवस्था, शासन इनके मूल्य दूसरे रहे। और हम खण्डित व्यक्तित्व बनकर सदियों से इस प्रकार जीते चले आए हैं कि घट्यात्म के नाम पर जाकर जो अपरिग्रही हैं, जो वीतराग हैं, जो जीवनमुक्त हैं—उनकी जाकर पूजा करें और मर जाने के बाद आर्थिक मूल्य भ्रमण है, राजनीतिक मूल्य भ्रमण है। व्यवहार कहा न आपने, व्यवहार को सत्ता भ्रमण मान ली, परमात्म की भ्रमण मान ली। महावीर के अपरिग्रह को किसीने आर्थिक मूल्य माना? अहिंसा को किसीने सामाजिक या राजनीतिक मूल्य माना? नहीं माना है।

शांति और संतुलन कोई ऊपर से लादे नहीं जा सकते। ये तो जीवन-पद्धति में खिलने वाले पुष्प हैं। अनायास खिल उठते हैं। आपकी जीवन-पद्धति को उपज हैं। जिस दिन मानव समझेंगे कि सारा का सारा जीवन का मूल्यांकन गलत है—ग्रहंकार की पूजा पर अधिष्ठित है, तो जीवन का मूल्यांकन ही बदल देना पड़ेगा। यह जिस दिन समझेंगे, उस दिन फिर अंतर्घात्रा और बहिर्घात्रा—दोनों में संगति आएगी। और इस संगति में से फिर जीवन में संगीत निष्पन्न होगा। अभी तो बेसुरा, बेताला चलता है।

यह प्रश्न का एक पहलू हुआ। और दूसरा यह कि यह मान लिया गया कि इस प्रकार की खोज के लिए, ऐसी उपलब्धि के लिए संसार से हट जाना जरूरी है, अरुण्य-निवास जरूरी है—स्त्री-पुत्रादि को छोड़ना जरूरी है—यानी निवृत्त एकाकी जीवन में जाना पड़ता है। यह मान्यता

दृढ़पूत्र हो गई कि सत्य की खोज, मुक्ति की उन्नत विधि जहां हम हैं वहां पर जीते हुए नहीं हो सकती, उसके लिए अलग हटना पड़ता है ।

अलग हटकर जो शांति और संतुलन पाया जाता है वह तो पता नहीं कितना नाजुक होता है । दो घंटे ध्यान किया और बड़ी शांति पाई, बड़ा मजा आया । और दो घंटे के बाद आकर बच्चे ने कुछ बात की तो गुस्सा आ जाता है । और बारह साल गुफा में और जंगल में रहने वाले तपस्वी और योगी हों—उनकी महत्त्वाकांक्षाएं नहीं छूटती हैं । नहीं तो, संप्रदाय नहीं बनते । पंथ नहीं बनते । इनकी आपस में लड़ाई नहीं होती ।

यह दूसरी एक बहुत बड़ी भुटि रही है । सत्य की उपलब्धि जीवन का सर्वोपरि मूल्य है, जीवन की कृतार्थता उसमें है, ऐसा जिस दिन सपथ में आएगा, उस दिन शांति और संतुलन के अनुकूल जीवन बनेगा । उपजीविका के कौन से साधन हम लेंगे कितना समय, कितनी शक्ति उसमें खर्च करेंगे, इसको आदमी फिर सोचेगा ।

जीवन की हर परिस्थिति सत्य की उपलब्धि का अवसर बन जाएगी । फिर साधना के लिए अलग उसको कोई तंत्र-मंत्र खोजने नहीं पड़ेंगे । क्षण-क्षण में उपस्थित होने वाली चुनौतियां और पल-पल में आने वाली परिस्थितियां—ये साधना के अवसर बन जाएंगे । और सामने आने वाले व्यक्ति साधना में मदद करने वाले साथी बन जाएंगे । उनका विरोध, उनकी निंदा, उनके द्वारा होने वाला अपमान—ये सब अंतर्गतार्थ में प्राप्ति बढ़ने के लिए मौके बन जाएंगे ।

जो पूछ रहे हैं कि शांति और संतुलन क्यों नहीं है ? उसका एक तो जवाब दिया कि इन लोगों की उपलब्धियों को आपने कभी सामाजिक-आर्थिक मूल्य माना ही नहीं । आपने यानी 'प्रश्नकर्ता' में नहीं । हमने और आपने । अलग रखकर उसकी पूजा की । लेकिन निन्यातवे फी सदी जो मनुष्य हैं गृहस्थाश्रमी, दुकानदार, व्यापारी, राजनीतिज्ञ—इन्होंने यही माना कि व्यवहार की सत्ता के लिए ये मूल्य उपयोगी नहीं हैं । इसलिए संन्यासियों का, मुनियों का, यतियों का वर्ग अलग बना । और सत्योपलब्धि होने के बाद जीने का एक अलग ढंग बना । उनका

ढंग धनग है और बाकी निन्यानवे फी सदी लोगों का ढंग अलग ।

सत्योपलब्धि और मुक्ति क्या कोई बोझ है कि उसको ढोने में तकलीफ होती है, खास परिस्थिति निर्माण करके रहना पड़ता है । फिर तो वह विकृति हो गई । यह जो रिश्ता रहा है ऋषियों से, मुनियों से, संतों से—हमारा और आपका—यह गलत रहा । साधना के नाम पर वे एकान्त में गए—वह एक भूल है, और समाज ने उनकी उपलब्धियों का कोई धार्मिक-राजनीतिक मूल्य नहीं माना—यह दूसरी भूल । इसलिए शांति और संतुलन प्राया नहीं । शांति-संतुलन के लिए सारी की सारी जीवन-पद्धति बदलने का साहस किसी में नहीं—जो हम कर रहे हैं वैसे करेंगे, जैसे जो रहे हैं—जिएंगे । यथास्थिति हमारी रहे, और फिर प्राय हमको शांति और संतुलन दीजिए कहीं से लाकर । उसको यदि खरीद सकते हैं तो खरीद लेंगे । वह छीना नहीं जा सकता, नहीं तो छीन भी लेते ।

### मन की मुक्ति

प्रश्न—संस्कारों का बना हुआ मन संस्कारमुक्त कैसे बनेगा ?

उत्तर—संस्कार मानस-शास्त्रज्ञों का पारिभाषिक शब्द है । शिक्षण भी एक पारिभाषिक शब्द है । हिन्दी में शायद संस्कार शब्द का प्रयोग इसके लिए होगा । वस्तुतः संस्कार शब्द का उसके लिए उपयोग करना ही फी सदी उचित नहीं है । हर शब्द में इंद्रधनुष से भी अधिक छटाएं भ्रम की होती हैं । और जिस छटा का निर्देश करना हो, उस छटा पर जोर देकर उसका उपयोग करना होता है । प्राय जैसे संगीत में तीव्र या कोमल स्वर लगाते हैं न ! राग बदल जाता है । और आरोह में जो तीव्र लगता है वही स्वर यदि अवरोह में कोमल लगे तो भी राग का स्वरूप बदलता है । राग का स्वरूप बदलने से भाव-निष्पत्ति भिन्न होती है । और रस-निष्पत्ति भी भिन्न हो जाती है । यह जैसे संगीत में होता है वैसे ही जीवन में । हम जानते नहीं हैं; लेकिन जीवन है तो संगीत ।

### संस्कार क्या है ?

संस्कार शब्द का उपयोग करें तो भक्तिव्याप्ति का दोष आता है । यानी

संस्कार शब्द में जितनी व्याप्ति है उतनी व्याप्ति ग्रन्थ शब्द में नहीं है। वह छोटा शब्द है लेकिन दूसरे शब्द के अभाव में उतना दोष ग्रहण करके उपयोग कर रही हूँ। संस्कारों में आबद्ध चित्त किस प्रकार संस्कारमुक्त होगा ? प्रश्न का यह भाषांतर ठीक है न ? (प्रश्नकर्ता—हां)

संस्कार शब्द के जो अनेक अर्थ हैं उनमें से एक अर्थ शिक्षण है। मनुष्य की संस्कारिता शिक्षण में से प्राती है। प्राकृत प्रवृत्तियों को शिक्षण द्वारा संस्कारित करते हैं—जैसे प्राकृत अनाज को संस्कार देकर उसका अन्न बनाते हैं। उसी प्रकार जो मनुष्य में इच्छाएं हैं—वासनाएं हैं—आदतें हैं—उनमें कुछ आनुवंशिक आदतें आ जाती हैं—प्रवृत्तियां आ जाती हैं—इन सबको संस्कार देकर मनुष्य को सुसंस्कृत बनाते हैं। यह तो जिस दिन खेती-कृषिशास्त्र का परिचय हुआ होगा—या उसकी शोध हुई होगी उसी दिन से संस्कार देने का, बनाने का, काम चलता आया है। चलना रहेगा। संस्कार बांधते नहीं हैं। संस्कार के बिना जिया भी नहीं जाएगा। जीवन पशुवत् होगा। मनुष्यता का सारा सौन्दर्य संस्कार में है। लेकिन ये जो संस्कार आते हैं—ये थोपे हुए हैं—उधार लिए हुए हैं ? या प्राकृत से संस्कृत बनाने की क्रिया में से खुद गए हैं—या तो उसमें शिक्षित हुए हैं वह देखना पड़ेगा। और जो संस्कार समाज में पाए जाते हैं—घर-घर में अलग होते हैं—माता-पिता के कारण अलग, परिवार के कारण अलग, जिस समाज में जन्म हुआ उसके कारण अलग, जिस धार्मिक समुदाय में जन्म हुआ उसके कारण अलग—यह तो होता ही रहता है। यानी एक ही शिक्षण द्वारा बुद्धिपूर्वक ग्रहण किए हुए संस्कार होते हैं। दूसरे वह, जो वातावरण में से अनायास, बिना भान के, बिना किसी प्रयास के उसके आत्मसात् हो जाते हैं। स्याहीचूस की तरह चित्त संस्कारों को वातावरण में से चूस लेता है; ये ग्रहण होते ही रहते हैं। संस्कारों से तो कोई भी बच नहीं सकता है।

बन्धन कहां शुरू होता है ? जो संस्कार मैंने पाया, उसीमें समग्र सत्य है—वही एकमेव रास्ता है—यह अभिमान या अभिनिवेश जहां उसके साथ जुड़ जाता है, वहीं से बन्धन शुरू होता है। या संस्कारों के कारण जो एक सूक्ष्म काया बनती है, वही काया मेरे जीवन की समग्रता



है—ऐसा भ्रम जब हो जाता है, तब व्यक्ति बंधने लगता है। वैसे, जीवन में न बन्धन है, न मुक्ति है। बन्धन को सत्य मानने वाला ही तो मुक्ति के पीछे दौड़ता है। और बन्धन की यदि सत्ता नहीं, तो मुक्ति की भी सत्ता नहीं। साफ बात है।

संस्कारों ने आपका क्या बिगाड़ा है ?

संस्कार तो होता ही रहता है। लेकिन जो संस्कार है उसके साथ अपने-आपको तदात्म जब बना लेते हैं तभी बन्धन होता है।

बगीचे में गए हैं—पुष्प देखे, गुलाब देखें, जुही देखी, चमेली देखी, कमल देखे। अलग-अलग सुगन्ध हैं। अलग-अलग सुन्दरता है। अलग गान है हरेक की। देखी। आनन्द आया। इस प्रकार मनुष्य-जीवन में जो विभिन्नता है, और संस्कारों की भिन्नता है उसके साथ, अपने संस्कारों समेत वही संबंध हो जाए जो पुष्पों के साथ है, तब तो बंधन नहीं।

संस्कारों के बिना मनुष्यता नहीं। संस्कार बांधते नहीं। लेकिन संस्कार की पद्धतियों को निरपेक्ष सत्य जो मान लेते हैं, और उनके आधार पर परस्पर तुलना, स्पर्धा, और संघर्ष शुरू होता है—तब भ्रुकिल पैदा होती है।

चित्त को संस्कारमुक्त नहीं बनाना पड़ता है। जहां तक चित्त की मर्यादा है, जहां तक चित्त की कक्षा है—यानी जहां तक मन की भूमिका है, वहां तक संस्कारिता से छुट्टी नहीं। चित्त की भूमिका हमारी अग्नितम भूमिका नहीं है। यह जो बुद्धि और मन का व्यवहार चलता है, वही केवल जीवन की समग्रता नहीं है। यह समझना है। मन और बुद्धि से परे चेतना है। उस चेतना की उपलब्धि होने पर नये जीवन में प्रवेश हो सकता है, यह समझना है।

अकबर की कहानी है न—कि दरबार में सब विद्वान् बैठे थे—और उन्होंने ब्लैकबोर्ड पर लकीर खींच दी। और दरबारियों से कहा कि इसको छूना नहीं लेकिन छोटी बना देना। इस लकीर को छूना मत, लेकिन इसको छोटी बना देना, हैरान है सब। छूएं नहीं, और छोटी भी बना दें। हो कैसे सकता है ? समझदारी का ठेका बीरबल का माना गया है इन सब कथाओं में। वह उठा। और चाक उठाकर उसने उस लकीर

के नीचे उससे एक लम्बी लकीर खींच दी। ऊपर वाली छोटी हो गई।

चित्त के संस्कार से जो लड़ता रहेगा उनको हटाने की, धो डालने की, पोंछने की, मिटा देने की कोशिश करेगा, उसको 'मैं कुछ कर रहा हूँ'—इसकी सांत्वना भले मिल जाए, लेकिन प्रादिमानव से लेकर आज तक के जितने ज्ञान और अनुभव के संस्कार हैं वे आपके और मेरे चित्त में पड़े हैं। उनको तो कोई मिटा नहीं सकता है। संस्कारमुक्त होने का अर्थ क्या है? संस्कारों का लोप करना है? उनका लोप करके पीछे पशुता के स्तर पर, भूमिका पर, उतरना है? जीवन में नष्ट तो कुछ होता नहीं है। रूपान्तर होता है, लेकिन नाश तो नहीं होता किसी वस्तु का, तथ्य का। आकार और उपादान के रूपान्तर को लोम विनाश मानते हैं—वह बात अलग है।

तो, संस्कारयुक्त मन को संस्कारमुक्त करना—वह वाक्-प्रयोग आपने किया, किन्तु हम सुभाते हैं कि मन के साथ कुछ मत कीजिए। उसमें कितने प्रकार के संस्कार हैं, इनको देख लीजिए, खूब अच्छी तरह से। क्या-क्या पड़ा है, और इसको मोन रखकर, इसके मोन में क्या घटित होता है—वह देखें। तो जहां मन और बुद्धि का प्रवेश नहीं है, कोई संस्कार नहीं है, जिसके कौमार्य को कोई छू नहीं सका है आज तक, वह 'मत्स्यं शिवं सुन्दर' है। आज तक मनुष्य ने चाहे जितनी कोशिश की, वह संस्कारित नहीं हो सकी है। वह नाम में, रूप में, शब्द में मर्यादित हो ही नहीं सका। व्याख्याओं में, वर्णनों में बांधा ही नहीं गया। संसार के सभी मनुष्यों ने लाख कोशिशों कीं कि बांध दें उसको। प्रतीक भले बना लिए, प्रतिमाओं के प्रतीक बनाए, उपमाओं के प्रतीक बनाए, शब्द-मयी काया बनाई, वह सब ठीक है। लेकिन सत्य को कैद नहीं कर पाए।

यह जो संस्कारबद्ध मन है, उससे परे चेतना है, जहां किसी प्रकार की संस्कारबद्धता है ही नहीं। उसमें प्रवेश करने का साहस करें—तो शिक्षण (संस्कार) कुछ बिगाड़ता नहीं। वह तो पड़ा है। लकड़ी अग्नि में जल गई, फिर जैसे राख रह जाती है, वैसे है। उस प्रकार आकलन की अग्नि में सभी जितने संस्कार हैं, वे जल जाते हैं—राख शेष रह जाती है। भले ही उसका भस्म रमा लीजिए।

## ईश्वरेच्छा का अर्थ

प्रश्न—'ईश्वरेच्छा बलीयसी' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आप शास्त्रों में से उधार उठाकर प्रश्न करते हैं। यह आपका अपना प्रश्न नहीं है। 'ईश्वर' शब्द से हम क्या समझते हैं ? ईश्व-ईष्टे धातु चलता है। सर्वत्र व्याप्त होना। 'जो सर्वत्र व्याप्त है, वह ईश्वर है।' ईशानाम् वरः—उनमे भी जो वर है, श्रेष्ठ है, वह ईश्वर है। जो सर्वव्याप्त है वह एकदेशीय तो नहीं होता। इच्छा से आपका और हमारा जो परिचय है उससे देखें कि अपने देह में इच्छा कहां से उठती है, कैसे उठती है ? इच्छा चलती किसपर आरूढ़ होकर है ? इच्छा की अपनी गति है ? सिद्धान्त तो बहुत लिखे हैं।

लेकिन प्रश्न हम तब पूछें जब एक-एक शब्द से परिचय पालें। 'ईश्वरेच्छा बलीयसी', जो पढ़ते हैं उसका अर्थ क्या हमने ग्रहण किया ? इच्छा से हमारा परिचय है या नहीं ? यदि ईश्वर शब्द के साथ न्याय करना है तो ईश्वर शब्द है—'सर्वत्र व्याप्त जो तत्त्व है उसका वाचक। जो सर्वत्र है उसका कोई एकदेशीय आकार नहीं हो सकता। यानी जिसको निराकार कहते हैं, वह आकार-रहित नहीं है, आकारातीत है।' सभी आकार जिसमें समा जाते हैं—सर्वत्र का तो यही अर्थ हुआ न। तो सर्वत्र व्याप्त जो है, वह एकदेशीय नहीं, एक आकार में आबद्ध नहीं। एक आकार में प्रतीक बना करके हम उसको सामने रखें—वह बात अलग है। वह सर्वत्र व्याप्त तत्त्व है, जिसको आजकल की विज्ञान की भाषा में कहते हैं और अघ्यात्म की भाषा में भी सर्वत्र व्याप्त शक्ति कहेंगे। मनुष्य की चेतना जिस सत्ता पर खड़ी है—वह भी ऊर्जा ही है जो सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य मात्र में, प्राणी मात्र में, जीव मात्र में व्याप्त है। तो उसकी क्या इच्छा होगी ?

सर्वत्र व्याप्त जो तत्त्व है, इसकी इच्छा क्या होगी ? मानवीय अर्थ में जो इच्छा है, वह इच्छा उसे हो सकती है ? इच्छा-अनिच्छा का, रुचि-अरुचि का, वैषम्य-नैर्घृण्य का आरोप तो नहीं कर सकते हैं उस तत्त्व पर। जो परम संचालन करने वाली शक्ति होगी संसार की, उसको

वैश्विक चेतना कहिए—वैश्विक ऊर्जा कहिए । तो आप और हम जिस अर्थ में इच्छा शब्द का प्रयोग करते हैं और उसका आशय समझते हैं— उस प्रकार की इच्छा उसकी नहीं हो सकती । यानी अनेक इच्छाओं में से एक इच्छा उसे नहीं हो सकती । हमारी तो अनेक इच्छाएं होती हैं न ! अनेकमुक्ती होती है । ऐसी तो कोई उसमें रह नहीं सकती । और हमारी इच्छा के पीछे हेतु है और एक मुकाम की कल्पना है, मंजिल भी है । उसमें तो यह अन्तर नहीं होगा । विन्दु में यदि और अन्त एक ही जगह है । विन्दु में प्रारम्भ कहां और अन्त कहां होता है ? यदि कहां समाप्त होता है ? अन्त कहां शुरू होता है ? यह पता चलेगा कभी ? यदि और अन्त एक-दूसरे से मिले हुए हैं, आलिगन में बंधे हुए हैं । यह जैसे विन्दु में देखने में आता है उसी प्रकार इस सर्वव्यापक तत्त्व की इच्छा में यदि, अन्त ये दो छोर नहीं हो सकते ।

अपने सुख-दुःख में सांत्वना पाने के लिए, या अपनी पुरुषार्थहीनता बंकरने के लिए यह कहा जा सकता है—'ईश्वरेच्छा बलीयसी', सामान्य मनुष्य जब 'ईश्वरेच्छा बलीयसी' कहता है—तो उसे ईश्वर भी मालूम नहीं है, इच्छा भी मालूम नहीं है । इच्छा की उत्पत्ति मालूम नहीं, इच्छा का विस्तार मालूम नहीं । इच्छा का लय कहां होता है—देखा नहीं है । और जिस वाक्य-रचना का अर्थ हमें मालूम नहीं, उसके आधार पर पृच्छा कैसी होगी ?

हां, यहां तक कह सकते हैं कि मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उस प्रयत्न की एक मर्यादा होगी । वह जो कुछ प्रयत्न करेगा, उसमें उसकी शक्ति, उसकी बुद्धि, ये जैसे उपादान हैं— उस प्रकार जिस समाज में वह है, जिस वातावरण में है, जिन लोगों के साथ मिलकर उसे काम करना पड़ता है, वे सब भी घटक अवयव बन जाते हैं ।

मनुष्य के किसी भी कर्म का फल, उसके अकेले के ऊपर निर्भर नहीं होता । अनेक तत्त्वों का, अनेक घटकों का सम्बन्ध उसके साथ जुड़ा हुआ है—जिसमें से फिर फल निष्पन्न होता है । प्रयत्न या प्रयास व्यर्थ नहीं आते । लेकिन प्रयत्नों के साथ गणित को जोड़ देना—कि मैंने इतना किया है—तो इस प्रकार का फल यहां से, इस दिशा से, इस समय मुझे

मिलना ही चाहिए, यह जो प्राग्रह है यह भ्रवज्ञानिक है।

'कर्म-फल त्याग करो' वयं रह—भाषा यहाँ नहीं है। केवल इतना ही कहा जा रहा है कि फल का प्राग्रह चित्त में रखना भ्रवज्ञानिक है। अब जहाँ गणित है, विज्ञान है, इंजीनियरिंग का काम है, डाक्टर को शल्य-क्रिया करनी है, वहाँ उसे अपने प्रयत्नों को कारण-कार्यभाव से देखना ही होगा। संशोधन कर रहे हैं प्रयोगशाला में बैठकर तो प्रयत्न में कहां भूल हुई, क्यों फल निष्पन्न नहीं हुआ, यह जानने के लिए वहाँ एक सीमित अर्थ में प्रयत्न का और फल का जो सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। यंत्र और विज्ञान की बात को समस्त मनुष्य जीवन के साथ साप लगा नहीं सकते। विज्ञान और यन्त्र-विज्ञान में जांच-पड़ताल के जो उपाय हैं, वे भी मनुष्य के जीवन में सर्वत्र लागू नहीं हो सकते। इसलिए कहना पड़ता है कि प्रयत्न मनुष्य करें, उसमें वैज्ञानिकता, सुभगता, शुचिता—सब कुछ मनुष्य रखें। लेकिन जो उसका फल निष्पन्न होगा उस फल पर नियन्त्रण और शासन करने की भ्रवज्ञानिकता न रखें। इतना अर्थ यदि 'ईश्वरेच्छा बलीयसी' से समझते हैं, तब तो कुछ उपयोग की बात लगती है।

तो, कोई वैश्विक चेतना या वैश्विक प्रजा में इच्छा रह सकती है या नहीं, इस प्रश्न में जाने का प्रभी भवसर नहीं है। क्योंकि 'समप्रता' आपके और हमारे लिए एक बौद्धिक धारणा मात्र है। 'सर्व', 'विश्व', 'समप्रता', 'वैश्विक' ये सब हमारे लिए शब्द मात्र हैं, इनसे कभी हमारा साक्षात् नहीं हुआ। खंडों से ही जिनका संबंध है, वे अखंड की बातें करें, अखंड के बारे में अनुमान करें। यह कुछ उचित नहीं, इसलिए ऐसी वैश्विक चेतना की इच्छा होती है या नहीं—इसका जवाब देने से हम इन्कार करते हैं। हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। हो सकती है तो उसका परिचय पानेवाले कौन होंगे, कैसे होंगे, इस चर्चा में जाना प्रभीष्ट नहीं है।

प्रश्न—गन की चंचलता का क्या कारण है ?

उत्तर—चंचलता के खिलाफ शिकायत दीक्षती है।

पानी बहता क्यों है ? हवा या वायु क्यों बहती है ? तेज या भ्रालोक क्यों बहता है ? स्वभाव है। स्व-धर्म है। तो, मन एक करण है। मन

या जिसको प्राप बुद्धि कहते हैं उसके दिमाग में, आश्रय स्वरूप मस्तिष्क में कुछ गोलक हैं। जीवित मनुष्य है न, नाद सुनाई पड़ता है तो नाद का संस्कार हुआ श्रुति पर। ज्ञान-तंतुओं ने वह बहन किया, पहुँचाया मस्तिष्क तक। वहाँ से प्रतिक्रिया उठी। कोई रूप देखा आँखों ने। उसका संस्कार पहुँचा। फिर प्रतिक्रिया उठी मस्तिष्क में। इस प्रकार व्यापार चलता है। लाश पड़ी हो—तो आँखें हैं, कान हैं, नाक है—कुछ नहीं होता है। कुछ घटित ही नहीं होता। नाद टकराकर लौट जाता है, नाद का स्वीकार नहीं, ग्रहण नहीं वहाँ।

तो, मन एक कारण है जो संवेदनों को ग्रहण करता है। प्रीर संवेदनों को ग्रहण करने के बाद जैसे संस्कार होंगे, उस प्रकार उसकी प्रतिक्रिया होती है। यह तो शील ही है चित्त का।

### प्राकलन क्या है ?

प्रश्न—प्राकलन चेतना की कोई अवस्था है—जिसका मन से कोई संबंध नहीं ?

उत्तर—जी हाँ, इसका मन से कोई संबंध नहीं। ज्ञान प्रीर मनु-भूति एक यांत्रिक क्रिया है, प्रीर प्राकलन है जीवन की गति में, उसकी लय में, व्यक्ति की लय का विसर्जित हो जाना। अहंताशून्य चेतना प्रीर उसके आसपास निरंतर गतिशील जो जीवन है, उसमें कोई प्रतिरोध नहीं रह जाता। आखिर सारा का सारा प्रतिरोध तो अहंकार में है न ! वह नहीं रह जाता है, तब लय में लय मिल जाती है—सुर में सुर विलीन हो जाते हैं। प्रीर जिसको आप प्राकलन कह रहे हैं—या शुद्ध अर्थ में अनुभूति कहें, प्रत्यय कहें—वह वहाँ संचारित होता रहता है। उसका मन से कोई संबंध नहीं है। मन बीच में आया तो ज्ञान तक पहुँचा सकता है। मौन के मन में जीवन का प्रत्यय है।

प्राकलन चेतना की वह अवस्था है जिसमें समय मन क्रियातीत अवस्था में रहता है।

संगीत का उदाहरण यहाँ उपयुक्त होगा। कण्ठ को सँकस करने वाले प्रीर राग की जानकारी के आघार पर स्वरों के उत्क्रमानुक्रम दिखाने

वाले गायक के परिश्रम की तो प्रशंसा हो सकती है—लेकिन संगीत के प्राण कहाँ हैं ? स्वर के साथ प्रेम, ग़ौर स्वर के साथ संगति में । ग़ौर स्वर को अपने भीतर प्रवेश करने दें, सारे व्यक्तित्व पर उसको जाने दें, ग़ौर वह प्रोतप्रोत हो जाने के बाद कंठ में से स्पंदन सहज निकले तो वह गाना है—वह संगीत है । उसी प्रकार जीना वह है कि अहंताशून्य चेतना और बाहर का जीवन, उसमें घटने वाली घटनाएं, उसमें आने वाली चुनौतियाँ, उसके सामने आने वाली व्यक्तियाँ—इनके साथ सहज संवाद हो । मन के मोन में, समग्र मानसिक क्रिया के यतिरोध में आकलन का जन्म होता है । उसका मानसिक क्रिया से कोई संबंध नहीं है ।

### बालक और ध्यान

प्रश्न—बच्चों को किस प्रकार ध्यानाभिमुख बनाया जा सकता है ?

उत्तर—बच्चों को ध्यानाभिमुख कौन बनाएगा ? बच्चे मां-बाप की या शिक्षक की वाणी से जितना नहीं सीखते हैं उतना उनके जीवन से प्रभावित होते हैं । शिक्षण का सम्बन्ध वाणी से कम है, मस्तिष्क से कम है, जीवन से अधिक है । एक जीवन से दूसरे जीवन में शिक्षण संक्रमित होता है । जानकारी को दिमाग में ठूस देने का नाम तो शिक्षण नहीं है । बच्चों को ध्यानाभिमुख बनाने वाला कौन होगा ? जो स्वयं ध्यानावस्थित होगा, वही तो । ग़ौर ध्यानावस्थित जो नहीं है, उस भ्रवस्था में जीता नहीं है, उसमें बच्चा ध्यान को क्या देखेगा, उससे क्या सम्भोग ? ध्यानावस्थित भ्रवस्था में जीने वाले का जीवन कैसा होता है, उसके व्यवहार में अलग प्रकार की गुणवत्ता कैसे पाती है—यह फर्क देखेगा न बच्चा, तब सीखेगा । ध्यानावस्था में जीने वाला जो व्यक्ति होगा, पहले तो उसके सहवास में बच्चे ध्यानाभिमुख बन जाएंगे । थोड़ी-बहुत जानकारी उनको देनी पड़ेगी, वह बात अलग है । लेकिन केन्द्र क्या होगा ?

इसमें जीने वाले माता-पिता और शिक्षक चाहिए । आजकल जैसा चलता है न कि एम० ए० की डिग्री चाहिए, बी० ए० की डिग्री चाहिए, तब फिर स्कूल में नौकरी मिलती है, और वह फिर सिखाने के लिए ही

योग्यतासंपन्न माना जाता है और हम वड़े इत्मीनान से बच्चों को उसके सुपुर्द कर देते हैं। और निर्विचल हो जाने हैं। हमारी शिक्षण की व्याख्याएं और शिक्षण की कल्पनाएं—और शिक्षण संस्थाएं—माता-पिता का दृष्टिकोण, शिक्षक का दृष्टिकोण, इनमें प्रामूलाप्रक्रांति करने की अनिवार्यता प्राज प्रा पड़ी है।

बच्चों को ध्यानाभिमुख कैसे बनाएंगे ? मन एक करण है, यंत्र है, अंतःकरण है, बहिष्करण नहीं है, बाहर का नहीं है, लेकिन एक करण है, एक यन्त्र है—जो उपयोग में लाया जा सकता है। लेकिन मन सर्वस्व नहीं है। और मन में उठने वाले तरंग कोई पूजा करने की वस्तु नहीं हैं। उनके गुलाम बनने की कोई जरूरत नहीं है। यह अपने जीवन में जानने वाला और उसके अनुसार जीने वाला व्यक्ति चाहिए। तो वह बच्चे को बताएगा। आजकल तो कोई माता-पिता का और शिक्षक का प्रामाण्य बच्चों के मन में रह नहीं गया है। आज की पीढ़ी 'मां ने कहा, पिता ने कहा'—इस प्रकार मानने वाली नहीं है। वे देखेंगे कि 'क्रोध मत करो' यह सिखाने वाला शिक्षक दिन में कितनी बार क्रोध करता है। तो उनका ध्यान शिक्षक के क्रोध पर है, अक्रोध के सबक पर नहीं है। वह जानता है कि सब तो ठीक है, परीक्षा में लिखने के लिए—लिख देंगे। अपरिग्रह की, बीतरागता की बात करके महावीर बुद्ध का जीवन पढ़ाने वाले पर ध्यान नहीं है उसका। वह बहुत सुन्दर डंग से पढ़ा देगा। लेकिन उस शिक्षक के जीवन में पैसे का क्या मूल्य है, संपत्ति के प्रति उसका रुख क्या है, कितना लालची है, पदोन्नति के लिए क्या करता है,—यह देखेगा बच्चा। शिक्षक बाजार में जाता है तो शाक-सब्जी खरीदते समय एक पैसे, दो पैसे के लिए शाक-भाजीवाली के साथ क्या व्यवहार करता है, होटल में बैठता है तो क्या करता है—यह सब वे देखते हैं। आजकल शिक्षक और विद्यार्थी के बीच संबंध में क्रान्ति प्रा गई है, जिसका हमें भान नहीं है।

हम शिकायत करते रहते हैं कि आजकल बच्चे कुछ नहीं मानते। आजकल बच्चे ऐसे हैं, बैसे हैं। लेकिन इतना जो एक अंतर पड़ गया है परिस्थिति में, अभ्यक्त जनमानस में, जिसमें कि बच्चे आज जन्म ले रहे हैं, सारे वातावरण में एक बहुत गहरा जो फर्क प्रा गया है उसके कारण



अब बच्चे विश्वास पर नहीं चलेंगे। और लादने-ठोकने से स्वीकार नहीं करेंगे। स्वीकृति उठेगी नहीं उनके भीतर। इसलिए बच्चों को यदि ध्यानाभिमुख बनाना हो तो केवल ध्यानावस्थित माता-पिता और शिक्षक ही यह काम कर सकते हैं—एक बात।

और दूसरी बात यह कि उनको मुझाया जा सकेगा, उनपर कुछ लादा नहीं जा सकेगा। उनको बतला देंगे कि मन करण है, यंत्र है। और जिसके जीवन में से मन की पूजा और मन का प्रामाण्य समाप्त हो गया है वही व्यथित बतला सकता है कि मन एक करण है, यंत्र है; इसका उपयोग किया जा सकता है, इसके गुलाम होने की जरूरत नहीं है। तब फिर बच्चा मन में उठने वाली प्रतिक्रियाओं को, मन में उठने वाले विचारों को, भावनाओं को अलग प्रकार से देख सकेगा। आज तो हम ही उठने वाले तरंगों के गुलाम हैं। तो वह समझेगा कि मन की पूजा, और मन जो मांगता है वह देना—यही सुख का रास्ता है। मन की गुलामी अनिवार्य नहीं है—यह उसको अपने जीवन से, अपने व्यवहार से, दिखाना पड़ेगा।

### मौन की प्रतिष्ठा

मौन के बारे में भी वही बात है। हमारे जीवन में चौबीस घंटे यदि बात किए बिना और क्रिया के बिना हम जी नहीं सकते हैं, तो बच्चा भी वही समझता है कि क्रिया करते रहना, बोलते रहना या कुछ करते रहना—यही जीवन है। न करेंगे और न बोलेंगे, तो फिर जीवन नहीं है। यानी धर्म की अवस्था भी जीवन की कोई अवस्था है जिसमें जिया जा सकता है, वह बच्चे को कैसे मालूम होगा? ध्यानाभिमुख करने वाला जो व्यक्ति, जो माता-पिता या शिक्षक होगा, वह वाणी का विनियोग और हृदयों के व्यापार का, क्रियाओं का विनियोग कैसे करता है—कलाकार जैसे स्वरों का उपयोग करता है, उस प्रकार यदि सिखाने वाला व्यक्ति इंद्रियगत क्रियाओं का, वाणी का, शब्द-व्यापार का विनियोग करेगा—तब बच्चे समझेंगे कि ये जो इंद्रियगत कर्म हैं—व्यापार हैं—वे तो जीवन का एक ही हिस्सा हैं। मौन एक भावात्मक वस्तु है। यह कभी देखने को मिलता है बच्चों को माता-पिता या शिक्षक के जीवन में,

कि वे मौन में रह रहे हैं ? उदास होकर, गुपसुम होकर घ्रादमी चुप बैठ जाता है, रुठकर चुप बैठ जाता है, गुस्से में चुप बैठ जाता है वह तो मौन नहीं है न । स्वायत्त मौन में बैठे हुए हैं और मौन में जी रहे हैं, ऐसा कभी देखने में नहीं आता ।

हमारे जीवन में मौन की प्रतिष्ठा पहले आवश्यक है । बच्चों को कहां देखने को मिलता है कि बिना घ्राडंबर के, बिना कोई मसला बनाए, बिना कोई कट्टर पक्ष बनाए, कभी कोई व्यक्ति मजे से शान्त बैठा हुआ है, शांति का आनन्द लूट रहा है । बैठे हैं माना-गिता, बोलते नहीं एक-दूसरे से, लेकिन साथ बैठे हुए हैं । ऐसा कभी बच्चे देखते हैं ? और वे पूछते हैं कि क्यों घ्राप बैठे हैं — बोलते नहीं हैं ? तो मां-बाप जवाब देते हैं कि बोलना कर्म है, तो न बोलना भी एक कर्म है । शरीर को हिलाना-डुलाना कर्म है, तो शरीर का शांत बैठना भी एक कर्म है । एक भावात्मक अवस्था है । यह कभी देखने को, सुनने को नहीं मिलता है उनको, इसलिए बच्चों का मौन से साक्षात् नहीं हो पाता । हम लोगों के जीवन में यदि बच्चों का मौन से साक्षात् हो जाए, तो वे भी बैठ जाएंगे । देख लिया माता-पिता को करते हुए, शिक्षक को करते हुए; वो भी बैठ गए । 'बैठो यहां, रोज बैठना चाहिए घ्राघा घंटा, यह घर का अनुशासन है,' ऐसा कहने से कभी नहीं बैठेंगे बच्चे ।

कलियों को फूंक-फूंककर फूल नहीं बनाया जाता । घ्यानाभिमुख बनाने के लिए हमारी सारी जीवन-पद्धति में जैसा यह क्रिया का आयाम है वैसे प्रकर्म का आयाम, वाणी का आयाम है, वैसे मौन का आयाम या इन दोनों को सक्रिय रूप से बच्चे देखें । तब वे अभिमुख बनेंगे । शिक्षकों के कमरे में शिक्षक बैठे हैं — कभी देखा घ्रापने कि वे शांति से बैठे हैं ? यह आवश्यक नहीं कि सब मौन-मल लेकर बैठें । लेकिन मौन में बैठे हैं कभी ? शब्दातीत साम्निध्य में कभी बैठते हैं ? मौन में निमग्न हैं, ऐसा तो कभी बच्चों को देखने को नहीं मिलता ।

### अनुभूति की घ्राग

प्रश्न — संत, मुनि, धर्म-ग्रंथ कहते हैं — परमात्मा सर्वत्र है । तो

प्रापने भी देखा होगा—हमको दिखाइए ।

उत्तर—मत देखिए प्राप । यदि मेरे साथ मन्त्राक न किया हो, सभा के साथ खिलवाड़ न हो, तो इस प्रश्न को जिज्ञासा समझ लेती हूँ, उसी में संरक्षण है । और कहती हूँ कि मत जाइए उस रास्ते । 'जो मैं ऐसा जानती, प्रीत किए दुःख होई; नगर दिबोरा पीटती, प्रीत करे नहि कोई ।' सर्वत्र व्याप्त चैतन्य के साक्षात् के बाद प्राप तो रह नहीं जाएंगे । किसी कुटुंब के, किसी जाति के, किसीके होकर जी नहीं पाएंगे प्राप । समग्र के दर्शन के बाद, अखंड के दर्शन के बाद, खंड के बनकर प्राप भी नहीं पाएंगे । ग्रहंता और ममता दोनों निकल जाएंगी, हाथ आएगी नम्रता । आवरणहीनता । और ग्रहंता ममता ने संरक्षण के जो सुन्दर-से गृह बनाए थे—वे बह जाएंगे । रह जाएगी जीवन की गतिशीलता । जिसमें रुकना नहीं, जिसमें मुकाम नहीं, जिसमें निरन्तर बहना ही है । अन्तहीन यात्रा है । इसको लेकर क्या कीजिएगा ?

और किसको पछी है परमात्मा की ? हमें भ्रम है कि हम सच्चमुच प्रेम चाहते हैं, सत्यं-शिवं-सुन्दरं चाहते हैं—भ्रम है । संसार से मुझेच्छा है, संसार और समाज सत्य है, यह है हमारी श्रद्धा । और छोटे-छोटे बच्चे जैसे खिलोना-गुड़िया लेकर खेलते हैं, उनकी धाटी होती है, फिर छोटे बर्तनों में रसोई बनाने का वहाना होता है, भोजन खिलाने का वहाना होता है, वैसे छोटे-छोटे धरोरे बनाए—परिवार के, जाति के, राष्ट्र के, और वहां रहे; कोई एक व्यक्ति मेरा है और मैं एक व्यक्ति का हूँ—इसमें संरक्षण लगता है । और, क्रोध और इर्ष्यत, द्वेष और घृणा, संदेह, धार्कषण, विकर्षण, ये सब मिचं-मसाले तो वहां परमात्मा में हैं नहीं ।

परमात्मा सर्वव्याप्त है, यानी कोई एकदेशीय, एक घ्राकार में प्रावृद्ध नहीं है—कि चमड़ी की घ्रांश से उसको देख लें । उसको देखने की घ्रांश प्रलग होनी । बोध हो सकता है । सर्वत्र व्याप्त को इस घ्रांश से देखा नहीं जा सकता । जिस देखने में देखने वाला ग्रहंकार है, जो किसी वस्तु का दर्शन करना चाहता है तो द्रष्टा भी चाहिए, दर्शन भी चाहिए, दृश्य भी चाहिए, यह सारी त्रिपुटी लेकर के सर्वत्र व्याप्त के पास जाया कैसे जाए ? सब में होकर जिया जा सकता है । परमात्मा में होकर के

जिया जा सकता है—लेकिन अलग भी रहना चाहेंगे, उसको देखना भी चाहेंगे—और 'मैंने देखा है' यह कहना भी चाहेंगे—'मैं' भी शेष रहना चाहिए न, नहीं तो, 'मैंने देखा है'—कौन कहेगा। तो 'मैं' भी रहूँ, वह परमात्मा भी अपनी जगह चुपचाप रहे, और जब मैं देखना चाहूँ तो वह देवारा अपना रूप भी दिखा दे। अस्तु।

आपने "सर्वत्र व्याप्त परमात्मा है" यह कह दिया—इसलिए मैंने यह सब कहा। अब भक्तों ने, उपासकों ने अपनी-अपनी रचि के अनुसार इस सर्वत्र व्याप्त चेतना के प्रतीक बनाए—उनकी उपासना की; उस निराकार को साकार बनाया, उस निर्गुण को सगुण बनाया, प्रतिष्ठित किया, अपने भीतर से बाहर निकालकर रखा उसको। उसका चितन किया, निदिध्यास किया, फिर उसको उस प्रतिमा में देखा, फिर सर्वत्र देखा—ऐसा क्रम भक्तों ने और उपासकों ने बनाया। उससे आपका मतलब हो, तो फिर आप "सर्वत्र व्याप्त परमात्मा"—यह शब्द-प्रयोग हटा लें। सगुण और साकार ये सब कवि-हृदय द्वारा जीने के लिए अपनी मदद में बनाई हुई वस्तुएँ हैं। श्रीकृष्ण के, राम के, बुद्ध के, महावीर के, ईसा के दर्शन होना कोई बहुत मुश्किल तो है नहीं। सगुण का साक्षात्कार तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। जो एकाग्रता से अभ्यास करते हैं, चितन करते हैं, निदिध्यास करते हैं—वो तो प्रक्षेप कर ही पाते हैं। वह तो एक घटना है। उसको तो आप नहीं कह रहे हैं न। तो प्रश्न क्या है? "परमात्मा सर्वत्र है, आपने देखा होगा, आप दिखाइए।" हमको जीवन से अलग परमात्मा विदित नहीं है। मनुष्य मात्र में नहीं, प्राणी मात्र में नहीं; वस्तु मात्र में, पदार्थ मात्र में, उसी चैतन्य की सत्ता नजर आती है। वस्तुएँ या व्यक्तिगत, पहाड़ हों, पत्थर हों, वृक्ष हों, बल्ली हों, पीपे हों—ये तो विभिन्न आकारों में लपेटे हुए उस चैतन्यके स्पर्दन है—ऐसा दिखता है। और पत्थर की जड़ता से उतना ही आनंद है जितना की जल की तरलता से; पहाड़ की स्थिरता से उतना ही आनंद है जितना कि भरने के उछलने-कूदने से।

करेला खाते हैं, कड़ुआ जान पड़ता है—फिर भी खाते हैं; कटुरस है। नींबू हैं, खट्टा है, बोध होना है। वैसे व्यक्ति सामने आते हैं—

किसीका स्वभाव करेले के जैसा, किसी का नींबू जैसा। किसीका मिर्च जैसा। तो मिर्च मुंह में जाए, तो “ग्राह !” तो निकल जाती है। ऐसे स्वभाव के व्यक्ति से सम्बन्ध पड़ा, तो जो ‘ग्राह’ निकल जाती है वह निकल ही जाए। लेकिन नींबू नहीं चाहिए, करेला नहीं चाहिए, शक्कर ही शक्कर चाहिए, आम ही आम चाहिए—यह जैसे सृष्टि में नहीं कह सकते, वैसे ही मनुष्यता की विविधता को हटाकर एक ही प्रकार गणबद्ध स्तर-बद्ध सब हों—यह भाव भी फिर उठता नहीं है। जैसे घड़रस वहां देखते हैं, वैसे अनंतरस मनुष्यों के स्वभाव में दिखाई देते हैं। मुझे यह मानूम नहीं है कि उस सत्ता से बाहर भी कोई जीवन है। उसको देखने के लिए कहां जाएंगे ? जहां बैठे हैं वहां वही तो है। आकार और गुण जिसकी सत्ता पर खड़े होते हैं—वह चैतन्य ही तो है।

## तृतीय प्रवचन

२३-१२-६६

### प्रेम पुरुषार्थजन्य नहीं है

हमारे सुरुष्य संवाद का आज अंतिम दिन है। जिस प्रांजलता से, विश्रब्धता से संवाद किया गया, उसी विश्रब्धता से या प्रांजलता से जो सुन पाए हों वे शन्य हैं। यह संवाद केवल आत्म-निवेदन के लिए था। 'सरूपम् आत्मनिवेदनम्'—सख्य में, मंत्री में, अपनी बात मित्र से कही जाती है। प्रेम में प्रयोजन नहीं होता। इस प्रकार मित्र के पास अंतरंग खोलकर रखने में कोई हेतु नहीं होता। मंत्री का सहज शील है आत्म-निवेदनम्। तो, आत्म-निवेदन की भावना से ही आपसे कुछ बातें कहीं गईं। लोग आज पूछते हैं—“ध्यान कैसे करें?”—कल पूछेंगे, “प्रेम कैसे करें?” आज ध्यान की पद्धति पूछते हैं, कल प्रेम की पद्धति पूछेंगे। पद्धतियों में, तंत्रों में कहीं प्रेम बांधा जा सकता है? प्रथादि पढ़ने से कहीं प्रेम का जन्म होता है? प्रेम कहीं मनुष्य के कर्म का परिणाम है? उसके ज्ञान का परिणाम है? उसकी शक्ति का परिणाम है? प्रेम पुरुषार्थजन्य नहीं है। वह जीवन की एक अवस्था की सुगंध है, सौरभ है। इसी प्रकार ध्यान एक अवस्था है।

यहां पर तीन दिन से जो बातें हुईं, उनके पीछे आपमें से एक नितान्त सामान्य व्यक्ति का बहुत प्रांजल आत्म-निवेदन था। इससे अधिक कुछ नहीं। इसमें प्रयोजन नहीं खोजिएगा। इसकी फलश्रुति बूढ़ने नहीं जाइएगा। नहीं तो, मंत्री की आत्मा ही कुचली जाएगी। कुछ निष्पन्न हुआ, तो हुआ; न निष्पन्न हुआ, तो न हुआ। अहेतुक, अकारण,

मिलने में मजा है। ग्रहैतुक, अकारण आत्म-निवेदन में भी आनंद है। और यदि कुछ निष्पन्न हुआ, तो इसको वक्ता के साथ नहीं जोड़िएगा। मित्र न हों, और मंत्री का आयाम न हो, तो बोलने वाला क्या साक बोले ? बोलने में आधा योगदान तो श्रोता का ही है। वक्ता और श्रोता के बीच प्रेम के कारण जो पुष्प खिल उठते हैं, वे हैं शब्द, वे हैं बोल। उनपर वक्ता की कोई मिलकियत नहीं है, वह वक्ता की उपज भी नहीं है। इतना ध्यान में रहे। सब अपना मित्रता का संबंध आगे भी बना रहेगा।

कल संध्या समा विसर्जन होने जा रही थी तब किसीने पूछा था कि मन के परे जाने या प्रसंग घटित होने से पहले कोई अवस्था है या नहीं, कोई अनुक्रम है या नहीं ? मंत्रों के जप का उसमें कोई प्रवकाश, कोई स्थान है या नहीं ? जिस बड़ी रेखा को खींचने का उल्लेख वक्ता ने किया था—दूसरी रेखा अपने-आप छोटी बन गई थी—वह बड़ी रेखा खींचना क्या होता है ? इस आशय का कोई प्रश्न किसीने पूछा था।

बड़ी रेखा खींचने का रास्ता यह है कि सुख और आनंद इनका फर्क पहले समझ लें। जिसको सुख और दुःख कहते हैं, वे जीवन के तथ्य हैं या चित्त की प्रतिक्रियाएँ हैं, तथ्यों के प्रति ? सुख संवेदन है जो इंद्रिय-विषय संबंध से जाय उठता है, या जीवन का तथ्य है ? उन संवेदनाओं को कृत्रिम रीति से गुणों में या स्तरों में बाँध देना हो सकता है, या एक-एक व्यक्ति के साथ वे नितान्त भिन्न रहती हैं ? सुख में और दुःख में होता क्या है ? यह देखना चाहिए। और आनंद और सुख का फर्क समझना चाहिए।

### इंद्रियजन्य उत्तेजना

इंद्रिय-विषय-संबंध में से जो उत्तेजना पैदा होती है, उस उत्तेजना के संवेदन को सुख कहा जाता है। और हर उत्तेजना अपनी छाया में अवसाद लेकर आती है। उत्तेजना और अवसाद अलग-अलग नहीं हैं। उत्तेजना प्रारंभ है, और अवसाद उसका अंत है। उत्तेजना का अंत ही अवसाद है। तो, सुख और दुःख भिन्न नहीं हैं। संवेदन का प्रारंभ सुख

है और अंत दुःख है। एक ही रेखा के ये दो छोर हैं—यादि और अंत आनंद का इससे कोई संबंध नहीं है।

आनंद तो चित्त की निर्द्वन्द्व अवस्था में होने वाला सहज स्पंदन है—जिसका कर्ता कोई नहीं और भोक्ता भी कोई नहीं। पानी से कोई पूछे कि बहता क्यों है? वह कहेगा 'मुझे मालूम ही नहीं कि मैं बहता हूँ।' देखने वाला देख रहा है कि पानी बह रहा है। और दो कूलों के बीच बहने वाली शांत नदी अनंत सागर की तरफ दौड़ रही है। यह तो देखने वाले की दृष्टि देखती है। वह उसको दौड़ना कहेगी, बहना कहेगी। पानी क्या जाने? उसी प्रकार, आनंद चैतन्य का वह घर्म है, निर्द्वन्द्व अवस्था का वह सहज कथन है, सहज स्पंदन है, जिसमें कर्ता-भोक्ता कोई नहीं हैं। आनंद की अनुभूति नहीं हो सकती है। सुख की अनुभूति होती है। मन के स्तर पर सुख और दुःख की अनुभूति हो सकती है, हर्ष-शोक की अनुभूति हो सकती है; आनंद अनुभूति का विषय नहीं है। दीपक से पूछें जलता क्यों है? वह जलना क्या जाने? वह तो अपनी सत्ता में है? उस सत्ता को जलने के रूप में आप और हम देखते हैं।

सुख और दुःख, हर्ष और शोक मनुष्य के जीवन में अनिवार्य हैं। यह द्वन्द्व का मलियारा है। इन द्वन्द्वों में से होकर गुजरना ही पड़ता है हरेक को। और उसमें जो अटकता है वह नासमझ है। चाहे सुख में अटके या फिर दुःख में अटके। सुख में अहंकार का एक स्वरूप है, तो दुःख में अहंकार का दूसरा स्वरूप है। सुख में घमंड होता है और दुःख में आत्म-दया होती है। आत्म-दया भी तो घमंड का ही एक प्रकार है।

सुख-दुःख से भाग नहीं सकते। ये तो हैं ही जीवन में। लेकिन इनमें जीवन का अघिष्ठान नहीं है। जल है, तो तरंगें उठती हैं। और बहने वाले जल को धारण करने वाली धरती न हो तो जल का बहना ही नहीं सकता। धरती स्थिर है। अचल है। प्रहार हों, आघात हों, धरती अविचल है। अविचल धरती न हो तो उसके वक्ष पर भरने और नदियां बह नहीं सकते। इस प्रकार आनंद की धरती भीतर न हो, तो सुख और दुःख की संवेदनाओं की अनुभूति नहीं हो सकती। इन दोनों के फर्क को मनुष्य समझ ले तो सुख-दुःख के पीछे दौड़ेगा नहीं। आते हैं तो उनसे



भागेगा नहीं, और नहीं आते हैं तो उन्हें खोजेगा नहीं। आखिर, जीवन में यह भाग-दौड़ ही तो बंधन पैदा करती है।

जीवन किसीसे नहीं कहता है कि भागो, दौड़ो, पीछे हटो। यह तो अपने-अपने मन की माया है। तो, सुख और दुःख अनिवार्य हैं। जिन्दा आदमी है, तो कान नाद सुनेगा, आँसू रूप देखेगी। प्राण से सुगन्ध, दुर्गन्ध या निर्गन्धता की अनुभूति होगी। त्वचा है तो स्पर्श की, शीत की, उष्ण की अनुभूति होगी। इसको कैसे टालिएगा? शीत है, शीत से बचने का प्रयास किया। उष्ण है, उष्ण से बचने का प्रयास किया। इस समझदारी से, कला से, योग से, आदमी जी सकता है। लेकिन भग-ड़ेगा नहीं। न शीत से भगड़ेगा, न उष्ण से; न हर्ष से, न शोक से; न सुख से, न दुःख से। हम समझदारी से जी नहीं पाते हैं, क्योंकि सुख और दुःख को जीवन का प्रयोजन समझ लिया है। संपूर्ण मानव-जाति सुख की शिकारी बन गई है। और सुख-दुःख सारे के सारे मन के स्तर पर हैं, और ये तरंगें जहाँ उठती हैं वह आनंद की सत्ता, वह घरातल मन में नहीं है, बुद्धि में नहीं है, इंद्रियों में नहीं है। लेकिन वह है जरूर।

## बड़ी रेखा

यह होती है बड़ी रेखा जिसे खींचने की बात गायद कल कही गई थी। जो व्यक्ति यह समझेगा, वह सुख का नशा इंद्रियों पर चढ़ने नहीं देगा या दुःख की प्रांच से इंद्रियों को झुलसने नहीं देगा। वह नशे में चूर नहीं होगा। देखेगा कि इनका नशा चढ़ता है। इसे देखने वाले का सुख और दुःख के साथ, इन संवेदनाओं के साथ, एक बड़ा सुमधुर संबंध स्थापित हो जाता है। धूप में से बलकर घाए हैं, बड़ी चिल-चिलाती हुई कड़ी धूप है, प्यास लग आई है। शोष पड़ गया है। किसी ने बड़े भाव से, चाव से, ठंडे पानी का गिलास दिया। अब ठंडा, शीतल जल पिया। शीतलता नस-नस में भर गई। सुख की अनुभूति हुई। मुसकराहट खिल उठी। खिलने दें। यह नहीं कि यह पानी पिप्या है, भाया है, क्या पीना है? यह तो स्वपीठक मनोवृत्ति है। नस-नस में शीतलता व्याप्त हुई है और शीतलता मुसकराहट में परिणत हो गई है,

तो होने दें। लेकिन अगले क्षण यदि फिर से घूप बंध जाना पड़ा, तो यह जो शीतल जल की शीतलता थी, उसकी स्मृति में अटक न जाएं। घूप तो पहले भी थी, और बाद में भी है। बाद की घूप जो ज्यादा तकलीफ देती है—वह शीतलता की स्मृति के कारण देती है। स्मृति बांधती है न ! तो शीतलता की अनुभूति पूरी-पूरी लें, जिन्दा आदमी जो हैं। उस मुख में सराबोर हो जाएं, लेकिन अगले क्षण जीवन जो सामने लाता है, उसको उसी मुख के ढांचे में पकड़ने की कोशिश न करें जो पहले क्षण मिला था, वह अब मिले ऐसी चाह न रखें।

जीवन में न पहला है, न बाद का क्षण है। पहले और बाद का यह सब मन का खेल है। जीवन बस है। उसमें न आगे है, न पीछे है। न भूत है, न भविष्य है। न पहला, न बाद का। ये अनुक्रम तो मन की उपज हैं। जीवन में न क्षण हैं, न घंटे हैं, न दिन हैं, न साल हैं। जीवन की सत्ता को अपनी बुद्धि की कंची से काट-काटकर अनानादि-अनंत को काट-काटकर घंटे और दिन बनाए, 'पहले' और 'बाद' बनाए। आपके कारण-कार्य के नियम में बंधने के लिए जीवन कोई कंदी नहीं है। नहीं बंधेगा। मनुष्य अपनी सापेक्षता के कारण, आगे और पीछे, पहले और बाद में, कारण और कार्य, इन भेदों को अनंत जीवन पर लादना चाहता है, लेकिन लाद नहीं पाता; और फिर निराश होकर लीटता है। दीवार पर सिर पटकने वाले को क्या मिलेगा ?

सुख-दुःख लड़ने-झगड़ने की भी चीज नहीं है। और उनकी खोज करते हुए उनके पीछे दौड़ने की भी चीज नहीं है। प्रवृत्त होने की चीज नहीं, निवृत्त होने की भी चीज नहीं। इंद्रियों के घम हैं। सुख होगा, मुसकराहट खिलेगी, और दुःख होगा तो आंसू भी बहेंगे। तो आंसू बहने में क्या हर्ज है ? आंसू न बहें ? क्यों न बहें ? कांटा चुभा पांव में, आंसू आए आंख में। भले आए। तितिक्षा के नाम पर सहेंगे, और कांटा निकालेंगे नहीं। यह पागलपन है। कांटे होंगे रास्ते में इसलिए चलेंगे नहीं, घर में बैठेंगे, यह नाससभी है।

तो, जीवन का प्रयोजन सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति माननेवाले जी नहीं पाते हैं। वे मन की भूमिका से आगे नहीं बढ़ पाते हैं। अपने ही

मन के गुलाम, अपने ही मन के कैदी बनते हैं। कुछ कँदियों की बेड़ियां लोहे की हैं और कुछ की सोने की हैं। है तो बेड़ियां ही। कुछ को एकान्त कोठरियां मिली हैं और कुछ को पवित्रवास (बैरक) मिले हैं। रहते तो एक साथ हैं। है तो जेल ही। बन्दीखाना ही तो है। कुछ को आंगन में टहलने की, घूमने की सुविधा है, और कुछ को छोटे-मोटे काम भी दिए गए हैं, जिनको सला कहते हैं, प्रतिष्ठा कहते हैं। लेकिन है तो बन्दीखाने के ही भीतर का खेल।

तो, ज्ञान और मनुभूति की बेड़ियां पहनकर मन की कैद में रहने वाले जी नहीं पाएंगे। जीना उन्मुक्तता चाहता है। उन्मुक्त मानवों का विहार है जीवन। इसलिए उसको लीला कहा गया।

बड़ी रेखा खींचने का रास्ता तो यह है कि सुख-दुःख और आनंद का फर्क समझें। जिस पल यह बात समझ में आती है, उसी पल सुख और दुःख की तरफ देखने की दृष्टि और वृत्ति में आमूलाग्र परिवर्तन आ जाता है।

### जीवन का धर्म

दूसरी बात समझने की यह है कि जीवन का धर्म ही निरंतर गतिशीलता है। इसमें उसकी नित्य नूतनता है। 'प्रतिक्षणं नवनवताम् उपैति।' प्रतिक्षण नया है। केवल देवी भवानी का स्वरूप ही नित्य नूतन रहता है ऐसा नहीं। बात यह है कि जीवन ही नित्य नूतन है। परिवर्तन तो सापेक्ष होता है। स्थिति और परिवर्तन हमारी दृष्टि की उपज हैं। वास्तव में निरन्तर गति है। जैसे कहा कि सुख और दुःख का घरातल आनंद है— उस प्रकार यह निरन्तर गतिशीलता भी तो किसी सत्ता के प्राधार पर है। तरंगों जो उठती हैं, उसका प्राधार पानी है। पानी न हो, जलाशय न हो, तो तरंग उठती नहीं। जीवन की निरन्तर गतिशीलता को मनुष्य रोकना चाहता है और अपने नाप-तोल में बांध लेना चाहता है।

मनुष्य यह कोशिश करता है कि मैं सुरक्षित रहूँ। इसलिए जीवन को बांध लूँ धरौंदों में। तो, वस्तुओं को इकट्ठा कर लिया, समझता है धन सुरक्षित हो गया। मकान हो गया। चार दीवारें हैं। ऊपर छत है,

भीतर सामान है। सारा सामान जुटाया है, संवारा है, सजाया है। यह मेरा घर है। इसमें मैं रहूंगा।

फिर व्यक्तियों को जुटाता है। संरक्षण चाहिए। भ्रकेला कैसे रहूंगा? शादी कर लो। पत्नी आई। पति आया। संतान हुई। मेरी पत्नी है, मेरा पति है। मेरे बच्चे हैं। मेरे सुख के लिए हैं। ब्यक्ति जुटा लिए।

वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए आपके नागरिक कानून हैं, जो संरक्षण देते हैं। पुलिस देती है संरक्षण। अब व्यक्ति भाग जाएं तो? उनको भी तो बांधकर रखना चाहिए। वस्तुओं को तो रखा घर में। उन बेचारों के हाथ-पांव नहीं हैं, वे खिड़की-दरवाजे में से भागती नहीं हैं। व्यक्ति भाग जाएं तो? कानून बन गए। समाजशास्त्र बना, नीति-शास्त्र बना। पत्नी का यह धर्म है, पति का यह धर्म है, संतानों का यह धर्म है; लगा कि अब सुरक्षित हो गए। सातत्य रहे—वस्तुओं से, व्यक्तियों से मिलनेवाले सुख में सातत्य रहे, और व्यक्तियों के और वस्तुओं के संबंध में से सुरक्षा मिले—ये जीवन के प्रयोजन बन गए हैं।

आप इनको हल्की-फुल्की बातें न समझिएगा। यह मनोविनोद भी नहीं है, और तत्त्वज्ञान भी नहीं है। यह आपके और मेरे जीवन का तथ्य है। भीतर झाँकिएगा तो पता चलेगा कि वस्तुओं को जुटाया है—और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए सरकारें बनीं, कानून बने, पुलिस आई, सेना आई। और व्यक्तियों के संरक्षण के लिए आपके शास्त्र बने। बांधने के लिए। जो बंधते नहीं हैं, उनकी सजाएं भी मुकर्रर हुईं। उनको गुनाह-गार भी करार दिया जाता है। लेकिन इतना सब करने के बावजूद, इतना सब करने पर भी, न सुरक्षा मिल पाती है, न सातत्य रह पाता है।

आज जिस वस्तु को बड़े प्रेम से और आनंद से हम लाते हैं और देखते हैं, और सुख मिलता है उससे,—उतना ही सुख कल नहीं मिल सकता। शरीर की हालत बदले, मन की हालत बदले,—वस्तुएं वही हों, मकान वही हों—सब सामान वैसा ही सुन्दर हो—मलंकार, परिधान, वही सब कुछ हो, सुख नहीं दे पाते। सुख देने की क्षमता वस्तुओं में, आपके चित्त में, आपके तन में और मन में एक-जैसी निरन्तर रह नहीं सकती। इसीको तो नित्य परिवर्तनशील कहा था।

## परिवर्तन की गति

यह परिवर्तनशीलता या गतिशीलता कोई दोष नहीं है। जो नित्य परिवर्तनशीलता या गतिशीलता से बचना चाहते हैं, वे जी नहीं पाते। जो पहली बात कही, उसके अनुसंधान में इस दूसरी को ग्रहण करें। तो इस रोक-थाम में ज़िन्दगी चली जाती है। और यदि कानूनों से काम नहीं चलता है, और व्यक्ति उस प्रकार बंध नहीं जाते हैं, तो फिर क्रोध है, घृणा है, उपेक्षा है, हिंसा के तो कितने ही साधन हमारे पास हैं। शब्द भी शस्त्र बनता है और मीन भी शस्त्र बनता है। उपेक्षा भी शस्त्र बनती है। यह न समझिएगा कि बंदूक से ही आदमी मरते हैं। शब्दों से भी आदमी मारे जाते हैं। बंदूक से मरा हुआ आदमी तो दिखता है। और शब्दों से मरे हुए दिलों को ढोनेवाली लाशों को जिन्दा आदमी कहा जाता है। मर जाता है जीवन भीतर का। कुचला जाता है। सिमट जाता है। सिकुड़ जाता है।

जहां कानूनों से भी संरक्षण मिलेगा, ऐसी प्राणा नहीं होती, तसल्ली नहीं होती, विश्वास नहीं होता, वहां बल-प्रयोग होता है। पति का पत्नी पर, पत्नी का पति पर, माता-पिता का संतानों पर। सरकारों का प्रजासभों पर। धर्मगुरुओं का धार्मिकों पर। गुरुओं का उनके शिष्यों पर शासन चलता है। इतनी सारी व्यवस्था के बावजूद गतिशीलता को कोई रोक नहीं पाते। आदमी रोज बदलता है। हर घंटे बदलता है। उसके मनोभाव बदलते हैं। न जाने कितनी छटाएं हैं। बदलती रहती हैं। तो, उनको बदलने से रोकें नहीं और उनके बदल जाने से हम डरें नहीं।

सुख-दुःख के लिए, शारीरिक आवश्यकताओं के लिए सामान जुटाते हैं, जुटाएँ। लेकिन आज हम हैं और कल नहीं भी हैं। अभी हैं और एक घंटे के बाद नहीं भी हैं। यह तथ्य है। जिस दिन जन्म हुआ और शरीर लेकर आए, उस दिन से मृत्यु हाथ पकड़ के चल रही है। इसको आदमी मूल जाता है, और मृत्यु को संकट मानकर दूर-दूर रखना चाहता है,— वह दूर कहीं, नजर से भोझन रहे, मेरे सामने नहीं आए। जन्म को तो स्वीकार करके समारोह करता है, और मृत्यु को संकट मानता है। जन्म

को मंगल कहता है और मरण को अमंगल, अशुभ कहता है। कौसी विचित्र हालत है मनुष्य के मन की ! यद् सातत्य की खोज है। यह सुरक्षा का पागलपन है, जो मरण को संकट, अमंगल, अशुभ समझता है।

यह तथ्य है कि अभी है और घड़ी भर के बाद नहीं भी है। तो शरीर में होना, शरीर में न होता, ये तरंगें भी किसी सत्ता के आघार पर उठती हैं। इसका जिस दिन बोध होगा उस दिन जीवन-यात्रा प्रारंभ होगी। रोज मरनेवालों को देखते हैं और मैं मरनेवाला हूँ यह भूल जाते हैं। रोज शव-यात्राएं उठती हैं, रोज चिताएं जलती हैं। लेकिन न जाने मानव-मन में भ्रम क्यों है कि मैं तो सनातन हूँ। इमीलिए लोभ होता है वस्तुओं का, इसलिए हमारा लोभ वस्तुओं का अपमान करता है और हमारी लालसा व्यक्तियों को अपमानित करती है। सहजीवन नहीं हो पाता, सहवास नहीं हो पाता। प्यार-प्रेम की तो बात ही छोड़ दो। सुरक्षा के लालची और सुख के खोजी क्या प्यार-जानेंगे ! इसलिए मनुष्य-जीवन में और मानवीय संबंधों में प्रेम नहीं, सहयोग नहीं, बंधुता नहीं, शोषण है, शोषण है, शोषण है ! अर्थशास्त्र हो, राजनीति हो, घर-कुटुम्ब-परिवार हो, एक-दूसरे से संरक्षण और सुख चूसने बँठे हैं। जोंक है जोंक।

बातें मेरी मधुर तो नहीं लगेंगी। लेकिन कठोरता मेरे हृदय की नहीं है। आपके और मेरे जीवन का जो तथ्य है, उसकी कठोरता है। मैं विवश हूँ। न जाने फिर से मिलना होगा या नहीं। चार मीठी बातें आपसे कहकर आपको राजी क्यों न करूँ ? मुझे भी आनंद होता। लेकिन यह मित्र का धर्म नहीं है। और मेरी दूसरी कोई हैसियत नहीं, केवल मित्रता की है। इसलिए कह रही हूँ — कि निरन्तर गनिमीलता है, परिवर्तनशीलता है, यह जो असुरक्षा है — इन सबको जीवन का तथ्य समझकर ग्रहण करें। इससे बचने की जो इच्छा होती है, वह है बेचैनी, अस्वस्थता, अशांति की जड़। वह है बंधन। और कोई दूसरा बंधन नहीं है। जीवन की यथायंता की स्वीकार करने का जो साहस करता है, वह परिवर्तन में से भी गुजरता चला जाता है। आज कोई मधुर बोला, कल किसीने फट्टु शब्द कहा। आज प्यार से भोजन परोसा, कल उसी हाथ ने तमाचा दिया। इसमें से उसको गुजरना होता है।

लोग कहते हैं—स्थितप्रज्ञ बनो ! सुख-दुःख को समान समझो ! पता नहीं, क्या-क्या कहते हैं ! और उसके लिए फिर 'स्थितप्रज्ञ कैसे बनें ?' फिर व्रत करो, फिर प्रतिज्ञा करो, फिर यम बनाओ, फिर नियम बनाओ ! ऐसा कहा जाता है । लेकिन हमें नहीं लगता कि यह जीने का रास्ता है । अनासक्त बनो ! धरे मार्ग, आसक्ति भी चित्त की वृत्ति है, अनासक्ति भी तो चित्त की ही वृत्ति है । गृहस्थ का जीवन यह एक आश्रम है, तो संन्यास भी तो एक आश्रम है । वह भी तो एक उपाधि है । भोग उपाधि है, तो योग भी तो उपाधि है । राग उपाधि है तो विराग भी तो उपाधि है । जहाँ-जहाँ चित्त को वृत्ति धारण करनी पड़ती है, वह उपाधि ही है । प्रवृत्ति धारण करें, निवृत्ति धारण करें; भोग धारण करें, योग धारण करें—चित्त शेष है; धारण करनेवाला शेष है । धारण करने का कर्म शेष है ।

### अपंग मानव-मंडल

और कल कहा गया था कि जीवन चित्त की स्वस्थता में यानी निर्विचारता और निर्विषयता में है । बाकी सब चित्त रूग्ण है । चौबीस घंटे विचारों से, विकारों से मानव ग्रस्त है । सारा विश्व एक अपंग मानव-मंडल है । मनुष्यों के साथ, वस्तुओं के साथ भेरा संबंध रोज बदलता है । इसके लिए प्रतिरोध न रहे । सम्मान हुआ तो मुसकराएँ । अपमान हुआ तो क्षण-भर के लिए एक दुःख की संवेदना उठी, टीस उठी । तो टीस में भी जी गए । मुसकराहट में जीना होता है और आंसुओं में जीना नहीं होता ? सुख की गुदगुदी हुई, तो वह जीवन हुआ, और दुःख की टीस उठी, दूल उठा, पीड़ा हुई—तो पीड़ा भी जीवन नहीं है ? जीवन को इतना छोटा क्यों बनाएँ ? इतना इकतरफा क्यों बनाएँ कि प्रापकी सुख की संवेदना में ही जीवन और जीना बंध जाए ? तो उठनेवाली पीड़ा को, व्यथा को, दूल को, टीस को, उतनी ही उन्मुक्तता से जी जाएँ जितनी से सुख की गुदगुदी को स्वीकार करते हैं । तो फिर दोनों में से आदमी आगे निकल जाता है । बादशाह की शान से वह हर्ष-शोक और सुख-दुःख—दोनों में से गुजरता हुआ चला जाता है । न एक को खोजना

पड़ता है, न एक के पीछे दौड़ना पड़ता है, न दूसरे से हटकर भागना पड़ता है ।

जड़ नहीं बनना है । लोगों ने तो न जाने क्यों मन से परे जानेवालों को जड़ समझ लिया है । उनको मान का अनुभव नहीं होता, अपमान का नहीं होता, सुख नहीं होता, दुःख नहीं होता, ऐसा समझा जाता है । तो क्या मुर्दा होते हैं ? बघिर हो जाते हैं ? ऐसा नहीं कि शून्य हो जाते हैं—संवेदनाशून्य । ऐसा तो नहीं है । सामान्य मनुष्य को सुख की जो अनुभूति होती है, उससे शतगुणित अधिक उत्कट सुख की अनुभूति उस व्यक्ति को होगी जो चित्त के परे जाकर जीता है । आप तो एक गिलास जल पीकर गिलास झलक रख देंगे । जल का और आपका संबंध खत्म हुआ । तृषा को मिटाने का ही हेतु पूरा हुआ, और आप चल दिए । लेकिन तृषा के मिटने से जो भाव-रूप विघावक अवस्था नस-नस में पैदा होती है, उसके साथ तो संबंध हुआ ही नहीं । उसके साथ तो मिलन हुआ ही नहीं । जल पीना किसी प्रयोजन से बंधा हुआ था । जल पीना समग्र व्यक्तित्व का कर्म नहीं था । वह तो प्यास को बुझाने की क्रिया थी । अन्न का आहार केवल भूख को मिटाने की क्रिया जिनकी है, वे क्या जानें अन्न के साथ समागम ? वे क्या जानें अन्न की भीतरी यात्रा ? और उससे घटित होने वाले तप्य ? उससे पैदा होने वाली शक्ति ? संवेदन-शीलता वहाँ तक जाती नहीं । प्रयोजन पूरा हुआ, क्रिया हो गई, चले आगे । तो कोई कर्म नहीं हो पाता । और किसी क्षण के साथ, किसी संबंध के साथ पूरा का पूरा जीना नहीं हो पाता । दौड़ते-भागते चले जा रहे हैं । खाने की फुरसत नहीं, पीने की फुरसत नहीं, सोने की फुरसत नहीं । न जाने क्या करने की फुरसत है !

परिवर्तनशीलता का जो प्रतिरोध करता है वह अहंकार है, जिसकी बात कन की । और परिवर्तनशीलता को जहाँ स्वीकार किया है, वहाँ फिर अहंकार के तांडव को स्थान नहीं रहता ।

### अहम् अस्मि

तीसरी एक बात उसके सिलसिले में कहनी है कि यह जो रात-दिन



प्रत्यय भीतर उठता है—'मैं हूँ, मैं हूँ', 'अहम् अस्मि, अहम् अस्मि'— किसी को सिखाना नहीं पड़ता है कि 'मैं हूँ'। तो, यह 'मैं कौन हूँ' यह सवाल अपने-प्राप से पूछें तो सही। अनेक अवस्थाओं में से गुज़रने वाला शरीर मैं हूँ? रात-दिन संकल्प-विकल्प की तरंगों जिसपर उठती रहती हैं—वह सुख-दुःखात्मक जो चित्त है, वह मैं हूँ? 'मैं हूँ', 'अहम् अस्मि' प्रत्यय का शुद्ध स्वरूप क्या है? इस प्रत्यय के साक्षात् दर्शन करने होते हैं, वह है बड़ी रेखा खींचना।

बच्चा पैदा हुआ। दूसरे बच्चों से, दूसरे व्यक्तियों से उसको भलग पहचानने के लिए नाम रख दिया। राम रखा, श्याम रखा, गीता रखा, सीता रखा। बच्चा भी समझ लेता है—दस बार पुकारते हैं मां-बाप 'सीता' या 'गीता' कहके, तो बच्चा भी मान लेता है कि मैं 'गीता' हूँ, मैं 'सीता' हूँ, मैं 'राम' हूँ, मैं 'श्याम' हूँ। नाम है—दिया हुआ। नाम तो प्रतीक हुआ। एक को कुरसी कहा, दूसरे को टेबल कहा। प्रयोजन के कारण कुरसी बनी, प्रयोजन के कारण टेबल बनी। नाम आए। है तो लकड़ी न असल में? नाम मिथ्या है, यह नहीं कह रही हूँ। मिथ्या और माया शब्द का भी इतना दुहायोग हुआ है कि उनको शुद्ध करने जाऊँ तो लम्बा समय लगेगा। ये माप-तोल के, व्यक्ति-परिचय के, वैशिष्ट्य परिचय के, प्रतीक हैं नाम। और क्या हैं? लेकिन बच्चा नाम के साथ बड़ा होता है तो मान लेता है कि 'अहम् अस्मि' प्रत्यय—इस शरीर के साथ, इस परिवार के साथ जुड़ा है। फिर उसको कहते हैं कि राम सुन्दर है, श्याम सुन्दर नहीं है, यह होशियार है, यह मूर्ख है। इसको यह अच्छा लगता है, उसको वह अच्छा लगता है। बच्चा इसी संबंध को लेकर आगे बढ़ता है कि मुझे यह अच्छा लगता है, यह बुरा लगता है। मैं सुन्दर हूँ, मैं होशियार हूँ, मैं अमुक हूँ। चला। शरीर के गुण और दोष आरोपित होते हैं 'अहम् अस्मि' सत्ता पर। नाम आरोपित होता है उस 'अहम् अस्मि' सत्ता पर। उसके तन और मन की प्रतिक्रियाओं की जो पद्धतियाँ हैं—वे आरोपित होती हैं उस सत्ता पर। पतें लग जाती हैं।

मान लिया—फलाना हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ। किसीका बेटा, किसीकी

बेटो, किसी की बहन, किसी का पति...। गलत चीजों के साथ वह प्रत्यय जब अनिवार्य रूप से जुड़ जाता है, उसमें उसको संतोष तो मिलता नहीं। प्रायः किसी बड़े आदमी के शरीर में छोटे बच्चे का कपड़ा यदि ठूसना चाहेंगे, तो वह नहीं जाएगा न ! छोटे-से पात्र में, न समा सके उतना द्रव-पदार्थ डालने जाएंगे, तो नहीं रहेगा न ! उसी प्रकार, 'अहम् अस्मि' प्रत्यय रात-दिन स्पंदित होता है। अपनी शुद्ध सत्ता के रूप में स्पंदित होने के लिए जीवन हमेशा लालायित रहता है। अब उन स्पंदनों को जोड़ दिया शरीर के, मन के साथ और उनकी व्यवहार की पद्धतियों के साथ। वह स्वीकार नहीं होता है, भीतर। मालूम होता है कि मैं कहीं भिन्न हूँ। आत्मा नाम की कोई चीज है, वह शरीर के भीतर बैठी है—और ये शरीर मरते हैं और वह आत्मा अमर है—ये सब बातें इसके साथ नहीं जोड़िएंगी। यह मेरा अभिप्राय तनिक भी नहीं है। मैं इतना ही कहना चाहती हूँ कि 'अहम् अस्मि' का जो स्फुरण है, 'मैं हूँ' यह जो भान है, इस भान का प्राणय क्या है ? इसकी खोज करना चाहिए। यही तो धर्म की खोज है। यही अध्यात्म की खोज है। 'धर्म' यानी 'धर्म-संस्था' नहीं।

### अध्यात्म का सार

असल धर्म का मर्म और अध्यात्म का सार इसमें है कि इस स्फुरण को, इस स्पंदन को, यह अकारण, यह हेतु, हमारे कर्तृत्व को नहीं, अपने-आप भीतर चलने वाला जो स्पंदन है, सत्ता है, उसको देखें। तो ऊपर की ये जो पत्तें हैं इनको हटा कर देखना पड़ता है। कपड़े यदि इस ढंग से पहने जाएं कि आदमी उसमें खो जाए। उसी प्रकार तो यह जो 'अहम् अस्मि' प्रत्यय है, वह खो गया है, वह छिप गया है इन आवरणों में। इसलिए मनुष्य को फिर अकेलापन मालूम होता है, निराशा मालूम होती है। लगता है कि कोई मुझे समझता नहीं है। संगति की खोज है, संगति मिल नहीं पाती। क्योंकि जो दूसरे खोए हुए हैं, जो भूले हैं, भटके हैं, अपनी ही सत्ता का जिनको परिचय भी नहीं है, आवरणों के अंधकार में जिनके मुंह भी छिपे हुए हैं, उनसे क्या बात होगी ? उनसे क्या सहवास होगा ?

तो कहीं सहवास नहीं मिल पाता, सान्निध्य नहीं मिल पाता। अत्यंत प्रियतम व्यक्ति के आलिगन में भी अकेलेपन की पीड़ा होती रहती है।

इसको खोजना चाहिए कि मैं कर्म करता हूँ, तो कर्म करने का यह बोध किसको होता है? और मैं इस काम को क्यों कर रहा हूँ? इस हेतु का बोध किसको होता है? कर्म भी होता है और कर्म का बोध भी होता है। गहरी नींद में सोया पड़ा हूँ। सोता भी मैं हूँ और सुबह उठकर कहता भी हूँ कि बड़ी सुन्दर नींद आई। निःस्वप्न, निर्दोष निद्रा थी। तो फिर सोए थे, तो जाग कोन रहा था? क्या जाग रहा था आपके भीतर, जो निद्रा का भी साक्षी बनकर उपस्थित था? मैं साक्षी शब्द का प्रयोग करने में भी जरा हिचकिचा रही हूँ, क्योंकि साक्षी का भी अस्तित्व बना लिया गया है। उसकी भी व्याख्याएं हो गई हैं।

'मैं हूँ' इस स्फुरण का, स्पंदन का, इस प्रत्यय का, अद्भुत स्वरूप देखने के लिए, जागृति में, स्वप्न में, सुबह से रात तक जो व्यवहार होते हैं, उनमें देखिएगा कि भीतर क्या चलता है। तन और मन हमारे अविभाज्य अंग हैं। जैसे हाथ, पांव अवयव हैं न, वैसे मन भी तो अवयव है। इंद्रियां हैं, वे बहिष्करण हैं। मन, बुद्धि, अंतःकरण है, लेकिन है तो साधन ही। तो, इनको धारण करना, इनका विनियोग, उपयोग, इनसे व्यवहार करना, इसमें व्यक्ति कुशल बनता चला जाएगा। इनका गुलाम नहीं रहेगा।

### गुलामी से मुक्ति

गुलामी से मुक्ति पाने के लिए तंत्र और साधना और मंत्र नहीं हैं। वह तो गुलामी को रहने देगा, और एक साधना का नया बोझ भी बढ़ा देगा। प्रवृत्ति से छुट्टी नहीं है, निवृत्ति का बोझ लेकर दो रहे हैं। तो अन्तिम क्षण तक प्रवृत्ति ही चलती है, और बुद्धि में और मन में निवृत्ति धारण किए हुए हैं। एक नया बोझ लादे हुए हैं, अपनी पीठ पर। एक था, तो एक से दो भले हो गए। जिसको धारण करना पड़ता है, वह स्वभाव नहीं है। जिसको ग्रहण करके जतन करना पड़ता है, वह विकास नहीं है, वह अवस्थान्तर नहीं है। प्रेम को धारण करना पड़ता है? साधना

पड़ता है ? अभ्यास से साधे हुए प्रेम जैसी कुरूप वस्तु कोई नहीं हो सकती ।

सुबह से रात तक, अंतःकरण के रंगमंच पर विचारों का, भावनाओं का, विकारों का, यह रास चलता है, नाटक चलता है, खेल चलता है । सूत्रधार बैठे हैं, जिनको आप 'अहं' के नाम से पहचानते हैं । यह चाहिए, वह नहीं चाहिए । अहंकार के दो ही चरण हैं । जैसे मनुष्य के दो चरण हैं, अहंकार के भी दो चरण हैं । एक 'चाहिए' का, दूसरा 'नहीं चाहिए' का । वह दोनों को साथ लेकर चलता है । कभी 'चाहिए' का कदम आगे बढ़ता है, कभी 'नहीं चाहिए' का कदम आगे बढ़ता है । और इनके चरण-चिह्न जो हैं, वही बंधन-जाल हैं । और क्या हैं ?

ये जो क्रियाएं दिन-भर चलती हैं, ये किसकी सत्ता से चलती हैं ? क्रियाओं के होते हुए क्रिया का बोध जागरित रहता है । जैसे भीतर कोई दीपक जल रहा हो ऐसा एक साक्षित्व का दीपक भीतर जलता है । आप इसको पहचानें, न पहचानें; इसका भान हो, न हो; इसका अनुसंधान आपको रहता हो, न रहता हो; लेकिन साक्षित्व का एक दीपक भीतर जलता ही रहता है । वह आपकी निद्रा को देखता है, स्वप्नों को देखता है । आपके मूठ बोलने को देखता है, और आपके डर के मारे सच बोलने को देखता है । समाज के डर से धार्मिक बनने के ढोंग को देखता है । आपकी लालसा को देखता है ।

लोग समझते हैं वह ईश्वर सब कुछ देखता है यानी कहीं वह चांद और सूरज के परे बैठकर ऊपर से, दूर से देखता है । वैश्विक चेतना नाम की सत्ता है जो बाहर बैठी हुई है । जिस चेतना को फिर हम मां के रूप में धारण करेंगे, ग्रहण करेंगे, उससे अनुरोध करेंगे, फिर वह अनुग्रह करेंगी । ठीक है । बच्चों को समझाते हैं, बहुकाते हैं, फुसलाते हैं । स्कूल में जाएगा तो घर आने पर लड्डू मिलेगा । तो इस प्रकार उस वैश्विक चेतना को कभी माता समझें, कभी पिता समझें, संबंध बनाना है न ! भानवीय सम्बन्धों का आरोपण करने पर फिर वह कहीं संरक्षण देगी । यह सब खेल खड़ा करते हैं, तो जिन बच्चों को खेल की जरूरत हो वे खेलें । बच्चों से गुब्बे वा गुड़िया छीनने से क्या होता है ?

वह वैश्विक चेतना यही है। हमारे भीतर। यहाँ जो नहीं है, वह बाहर संसार में कहीं नहीं हो सकता। यहाँ और वहाँ शब्द भी गलत है। प्रयोग करने पड़ते हैं—बया करूँ? शब्द के माध्यम से बोलना तो गुनाह है। सत्य के प्रति मोन ही भाषा है। लेकिन कर बैठती हूँ गुनाह। दोस्ती की कायल हूँ। तो ऐसे न जाने कितने गुनाह हो जाते हैं। अपराध हो जाते हैं।

शब्द से सत्य का दंगित भी नहीं हो सकता है। बड़ा कमजोर, बड़ा खोखला है मनुष्य का वैखरीवाणी का शब्द। प्रधूरा है, रूखा-सूखा। और, बिल में से होकर उसे गुजरना पड़ता है तो वैखरीवाणी का शब्द तो दूषित हो ही जाता है।

सुबह से रात तक वस्तुओं के और व्यक्तियों के प्रति जो व्यवहार होता है, उसमें एक तो करने वाला प्रत्यय दौड़ता है, और जो कुछ नहीं करता है, ऐसा एक दूसरा सत्ता का प्रत्यय भी समानान्तर दौड़ता है। अब भोग में या योग में जो अटक गए हैं, राग या विराग में फंस गए हैं, वे यह साहित्य का जो दीपक हैं, दूसरा समानान्तर दौड़ने वाला जो प्रवाह है—'अहम् प्रस्मि' या 'मैं हूँ' प्रत्यय का,—इसको देख नहीं पाते हैं। क्योंकि वे तो उधर फंस गए हैं न? लेकिन यदि सजगता से, सावधानता से व्यवहार करें, कोमल संवेदनशीलता से जीएं, तो जीते-जीते फिर यह जो दूसरा समानान्तर दौड़ने वाला प्रत्यय है, वह सुस्पष्ट होता जाता है।

अहंकार के कर्म को और कर्म-जंजाल को देखने वाला दूसरा जो साहित्य का प्रवाह है, 'अहम् प्रस्मि' या 'मैं हूँ' इस स्वरूप का, इस प्रत्यय का प्राशय कहीं इस प्रवाह में तो छिपा नहीं है?

### निषेध नहीं सावधानी

इस प्राशय की उपलब्धि के लिए अहंकार के निषेध की जरूरत नहीं। उसमें सावधान रहने की जरूरत है। इससे भागने की जरूरत नहीं, इसमें जीने की जरूरत है। इसमें बहना नहीं, जीना है। इसमें जो जीएगा, इन क्रियाओं में जो सावधान, सजग होकर जीएगा उसको प्रत्येक क्रिया के साथ-साथ चलने वाले प्रत्यय का बोध होगा। वह प्रत्यय

ऐसा है जिसको विकार-विचार छू नहीं पाते, जिसको ज्ञान और अनुभूति छू ही नहीं पाते। आपकी निद्रा और जागृति भी छू नहीं पाती। वह निद्रा में भी वैसा ही जागृतमान्यमान है जैसा कि जागृति में।

आप बोलते हैं—तब बोलने में भी तो दो शब्दों में, दो विचारों में जो बीच में अन्तर रह जाता है, वहां तो मीन का ही स्पन्दन है। संगीत है। गाने हैं, बजाते हैं। दो स्वरों के बीच जो अन्तर है, उस अन्तर को तोड़ना भी नहीं है और जोड़ना भी नहीं है। वह अन्तर है, उसका अस्तित्व श्रोता को जतला कर धागे बढ़ना है। वही तो गा पाता है। जो अन्तर को तोड़ने जाता है, शास्त्र को करामात दिखाने जाता है, वह क्या गा पाएगा! सरकस करेगा!

इस प्रकार, इन क्रियाओं में जो सावधान रहेगा, सजग रहेगा, समान रहेगा, उसको वह जो साथ दौड़नेवाला अक्षरों का, कुछ न करने की अवस्था का, केवल चैतन्य का प्रवाह है, केवल सत्ता का जो स्पंदन है, उसका बोध हो सकता है। वह बोध जैसे-जैसे उत्कट होता जाएगा, जैसे-जैसे गहरा बैठता जाएगा, जैसे-जैसे वह इन क्रियाओं में प्रवेश करने लगता है। इन क्रियाओं का फिर रंग-रूप पलटने लगता है। कुछ करना नहीं पड़ता है। उनका रूपान्तर, उदात्तीकरण, दमन करना नहीं पड़ता है। लेकिन इस बोध की उत्कटता, तीव्रता और गहराई नस-नस में इतनी श्रोतश्रोत होने लगती है कि उसमें होश भी नहीं है और बेहोशी भी नहीं है। उसमें उन्माद नहीं है। उसमें मस्ती नहीं है। लोग तो उन्मनी को उन्माद के साथ जोड़ते हैं। तुरीयावस्था को मस्ती के साथ जोड़ते हैं। ये सब कचाई के लक्षण हैं। इन्हें विकृतिपान नहीं कहेंगे। परिपक्वता का अभाव है। शुद्ध पारिभाषिक शब्द में तो विकृति ही है। लेकिन विकृति शब्द का अर्थ आज रूढ़ भाषा में अप्राकृतिकता हो गया है। इसलिए इस शब्द का प्रयोग करने में संकोच होता है।

शुद्ध सत्ता के स्पंदन का बोध गहरा होगा, तीव्र होगा, उत्कट होगा, तो निद्रा में भी उसका भान रहता है। तथाकथित जागृति में भी उसका भान होता है। कर्म करते जाते हैं तन के और मन के, क्रियाओं के साथ इंद्रिय विषय-संबंध में से उठने वाली क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं, प्राधात-प्रत्या-

घात—इनके साथ चले जा रहे हैं। वह नहीं रहे हैं। तैर रहे हैं। बहने वाले का प्रवाह के साथ मिलन तो होता ही नहीं है, वह प्रवाह पर है लेकिन प्रवाह के साथ नहीं है। तैरने वाला साथ भी हो सकता है, विरोध में भी जा सकता है। उसका मिलन भी होता है। यह तो तैराकों का काम है। लेकिन जिनको भवसागर और जीवनसागर के परे ही जाने की जल्दी पड़ी है, नाव मिले, जहाज मिले—बैठो उसमें, जाओ ! सागर से स्पर्श नहीं होना चाहिए। वस्त्र भीगने नहीं चाहिए। कहीं नाव में समुद्र का पानी न चला जाए। तो ये सुरक्षा के खोजी, ये सुख के शिकारी, तंत्रों के, पंथों के, पद्धतियों के जहाजों में बैठकर ठीक जन्म से निकलकर मरण तक चले जाते हैं। जी नहीं पाते हैं, जीवन का स्पर्श नहीं है। रुखे-सूखे मर जाते हैं। मर गया जाते हैं—मारे जाते हैं। जो जीता है वही तो मर पाता है। मरना कोई खेल है ? जो जीवन को धार्मिक नहीं दे पाता, वह मरने का मजा क्या जाने ? एक छलांग लगाई—कि इस पार से उस पार !

छोटी रेखा जो है, वह ग्रहंचालित इंद्रियवश क्रियाओं की है। और निद्रा में, जागृति में, डेष में, घृणा में, क्रोध में, मान में, अपमान में, हर्ष में, शोक में जलने वाला जो बोध का दीपक है, बुद्ध प्रत्यय का—इसकी है वह बड़ी रेखा। उसको तो बीरबल को खींचना पड़ा था, हमको खींचना भी नहीं पड़ता। वह है ही वहां। देखना भर है, समझना भर है, और क्या है ? करना-कराता जीवन में बहुत कम है।

## तृतीय प्रश्नोत्तरी

२३-१२-६६

### मीन का द्रष्टा

प्रश्न—मीन में चित्तवृत्तियों को कौन देखता है, बुद्धि, या चेतना ?

उत्तर—बुद्धि के देखने में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन ये तीनों समाविष्ट रहते हैं। बुद्धि को साक्षात् दर्शन नहीं हो पाते। किसी भी तथ्य का साक्षात्कार बुद्धि के लिए संभव नहीं है—क्योंकि बुद्धि देख पाती है नाम-रूप-व्याख्या। वर्णन के सहारे यदि यह कहें कि बुद्धि देख ही नहीं पाती, देखना धर्म बुद्धि का है ही नहीं, तो बात घटपटी लगेगी। सत्य है ही घटपटा।

बुद्धि देखती है नाम को, रूप को, नाम-रूप के समुच्चय को मानव ने जिन वर्णनों में—व्याख्याओं में गुंथा है उनको। इसलिए बुद्धि के देखने में देश और काल ये दो घा जाते हैं। काल यानी समय, और देश यानी अन्तर—या अवकाश। ये दो बीच में घा जाते हैं। जहाँ दृश्य द्रष्टा से अलग ही बना रहता है। दृश्य की एक सत्ता है—द्रष्टा की अलग सत्ता है—और दर्शन के सेतु से द्रष्टा और दृश्य जुड़ जाता है—यहाँ तक बुद्धि पहुंचती है। दोनों की भिन्न सत्ता का भ्रम रखती है। बुद्धि की पहुंच या तो वस्तुनिष्ठ होती है या कर्तृनिष्ठ होती है।

जो नाम दिए गए, जो वर्णन दिए गए, जो व्याख्याएं की गईं, इनके सहारे, इन बंसाखियों के सहारे चित्त चलता है। साक्षात्कार नहीं और मिलन भी नहीं। बुद्धि सृष्टि के साथ मिलन होने में सहायक तत्त्व नहीं है। वह एक दूरी बनाए रखती है, और जानकारी ग्रहण होने देती है।



जानकारी का ग्रहण, संचय जिसको ज्ञान कहा जाता है वह मिलन या अनुभूति में बाधक तत्त्व है ।

यह हुआ बुद्धि का देखना । देखना भी रह जाता है, देखने वाला भी रह जाता है । मिलते नहीं हैं कोई । यह नहीं होता है कि द्रष्टा और दृश्य, दोनों मिल गए हैं । अलग हस्तियां उनकी मिट गई हों । और रह गया केवल देखना । कौन देखता है, किसको देखता है—यह पूछने की जिसमें गुंजाइश नहीं, ऐसा देखना रह जाए—यह होता नहीं, बुद्धि में यह संभव नहीं ।

इसलिए वस्तुओं के वर्णन तक और व्याख्या तक बुद्धि पहुंचा देती है, जिसकी एक हद तक आवश्यकता है । ऊर्जा के स्पन्दनों पर जड़ पदार्थों की लपेट जितनी मोटी होगी उतना बुद्धि के लिए वर्णन करना सुलभ हो जाता है । और जहां दृश्य सूक्ष्म होता जाता है, तरल होता जाता है, घमड़ी की आंख के लिए अव्यक्त बन जाता है, वहां बुद्धि की गति पहुंचती नहीं । जिसके नाम, रूप, रंग, आकार नहीं होते, ऐसे तथ्यों के दर्शन तो बुद्धि कर ही नहीं पाती ।

मीन में बुद्धि अपनी समस्त क्रियाओं को समेट कर शांत रहती है, यह जानते हुए कि वहां मेरी गति नहीं है । यह जो है, बुद्धि के द्वारा नामों को, रूपों को, व्याख्याओं को, वर्णनों को अप्रत्यक्ष रीति से ग्रहण करने का, संचय करने का पंथा है, यह जब अपने-प्राप में सिमटकर शांत हो जाता है, वहां—मनुष्य व्यक्तित्व की जड़ें जागरित होती हैं । सारी की सारी ऊर्जा, जो बिखर गई थी; विचार में, भावना में, अहंकार की चंचल खेलों में जो ऊर्जा, जो शक्ति, जो सत्ता बंट गई थी, वह सिमट कर अपने-प्राप में इकट्ठी हो जाती है । वह फिर देखती है । वह देखती है—यानी उसका आंख खोलना, उसका देखना, देखने वाले और देखी हुई चीज दोनों को मिटा देता है । तथ्य का साक्षात्कार होना तथ्याकार हो जाना है ।

मीन है चित्त की निष्कंप अवस्था, जिसमें कंपन नहीं है, विचार के या भावना के तरंग नहीं है । इस अवस्था को मीन कहते हैं । तो मनुष्य को पता नहीं है कि मन और बुद्धि से परे एक अवशिष्ट चेतना उसकी

पढ़ी हुई है—जो आज काम में नहीं आती। ध्यानावस्था में ही वह चेतना कार्यशील या कार्यप्रवण बनती है। जब तक बुद्धि से या मन से काम लेते हैं, तब तक चैतन्य की सत्ता काम नहीं करती। लेकिन जहाँ समस्त क्रियाओं को समेटकर बुद्धि शांत हो जाती है, वहाँ चेतना को कार्यशील बनने के लिए अवकाश मिलता है।

कहा गया था कि यह जो चैतन्य या चेतना है, यह सर्वव्याप्त है, मोतप्रोत है। नन्हा-सा पौधा हो या विशाल वृक्ष हो, विराट् पर्वत हो या छोटा-सा भ्रूना हो, इन सब में जो स्पंदन हैं वे उसी ऊर्जा के हैं— जो आपके और मेरे भीतर है। चैतन्य में अन्तर है नहीं, उसमें अलगाव है नहीं। वहाँ एकता या अनेकता का अवकाश नहीं। अविच्छिन्न, अखंड सत्ता है। अन्तर न होने के कारण, वहाँ देखना, देखने वाला और देखी हुई चीज ये तीन अलग रह नहीं सकते। यह भेद नहीं होता। जल में उठने वाले तरंग जिस प्रकार एक-दूसरे में विलीन होते हैं, मिल जाते हैं, उसी प्रकार फिर यह सृष्टि में व्याप्त जो चैतन्य है उसके स्पंदन एक-दूसरे को लिपट जाते हैं। उनका हो जाता है फिर साक्षात्कार, उनका हो जाता है मिलन।

मौन में जो दर्शन होते हैं उसमें कोई द्रष्टा नहीं है। जो सृष्टि की बची हुई सत्ता से अलग हो, ऐसा कोई द्रष्टा वहाँ है नहीं। वह तो प्राप्त-पास की वस्तुओं के और व्यक्तियों के दर्पणों में अपने-आपको देखने की लीला हो जाती है। जिसको लोग आत्मोपम्य कहते हैं, जिसको लोग बड़े-बड़े नाम देते हैं। जटिल नामों से घबरा नहीं जाएगा। बात बहुत सीधी है, सरल है। जिसको अद्वैत, और पता नहीं क्या-क्या लोग कह देते हैं, आत्मानुभव कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।

ये चैतन्य के जो स्पंदन हैं, जो संसार में मोत-प्रोत हैं, उन सबसे फिर इस देह में समाए हुए चैतन्य का मौन में मिलन हो जाता है। इसीलिए पहले दिन कहा गया था कि मौन में मिलन है। शब्द में आंशिक संपर्क है; संबंध भी नहीं है। आंशिक साग्निष्य है, सहवास है; सहजीवन नहीं, संबंध नहीं। मिलन बहुत दूर रहा।

मौन में देखने वाला कोई नहीं। केवल चित्त-शक्ति का विलास है।

## जीवन और प्रारब्ध

प्रश्न—जीवन और प्रारब्ध का सम्बन्ध क्या है ?

उत्तर—प्राक् आरब्धम् इति प्रारब्धम्—जो पहले से शुरू हुआ है वह प्रारब्ध है। इस देश में और संसार के सभी देशों में किसी कार्य की कारणराशि प्रज्ञात हो तो उसको प्रारब्ध कह देते हैं। और जैसे-जैसे कारणराशि ज्ञात होती जाती है वैसे-वैसे प्रारब्ध का क्षेत्र घटता चला जाता है। एक तरफ से विज्ञान ने प्रारब्ध के क्षेत्र को बहुत घटा दिया है—और दूसरी तरफ से आन्तरिक खोज करने वाले विद्वोही आध्यात्मिक वीरों ने प्रारब्ध का जो क्षेत्र है, प्रज्ञात कारणराशि का जो ढेर है, उसको बहुत घटाया है। अब इतना प्रारब्ध तो शेष रह जाता है कि जिस देह में जन्म हुआ है, तो माता-पिता से कुछ शरीरगत, मनोगत आनुवंशिक गुण-दोष मिल जाते हैं। जिस जमात में पैदा हुए हैं उसके संस्कारों का कुछ अवशेष साथ आता है। जिस देश में पैदा हुए, जिस घम में पैदा हुए, वहाँ के संस्कार शेष रह जाते हैं। आखिर जिसको प्राप कसेवर कहते हैं, यह जो शिव है, जिसके भीतर शिव तत्त्व रहता है—यही है असली मंदिर। लोग बनाने जाते हैं ईंट और पत्थर के मंदिर। अपने पास ही बने-बनाए मंदिर हैं, बड़े सुन्दर हैं, जिनमें स्वयं अधिष्ठाता देवता ही रहते हैं—फिर देवता को खोजने जाते हैं। और उपासना का खेल भी खेलते हैं। खैर, अपनी-अपनी रुचि। कौन कितना चक्कर काटकर सत्य के पास आएगा, इसका कोई जवाब गणित और तर्क के पास नहीं होता।

जीवन के साथ प्रारब्ध का कोई संबंध नहीं है। जीवन की गति सर्वथा स्वतंत्र है। लेकिन तन के और मन के आवरण में रहते हुए जो सीमाएं और मर्यादाएं उपस्थित हो जाती हैं उन मर्यादाओं के कारण जीवन की गति में गति मिलाकर चला नहीं जाता—कुछ समय तक जीवन की गति में निर्विकल्प होकर, लय में लय मिलाते हैं, फिर थक जाते हैं। यह आवरणों का बोझ भारी है न, गुच्छ प्रत्यय फिर रहता नहीं, आरोपित हो जाता है। देह का और मन का जो आवरण है, उसके

प्रारोप से फिर वह प्रत्यय स्थूल बनता है। जब गति शिथिल पड़ जाती है उसको प्रारब्ध कहते हैं। हाँफने लगते हैं, थक जाते हैं। जीवन तो निरंतर गतिशील है। किसीके लिए रुकता नहीं। जब तन और मन की मर्यादाओं के कारण इस प्रकार रुकना और ठिठकना हो जाता है—निरंतर गतिशीलता अनुकूल नहीं पड़ती है—कही विश्राम, कहीं रुकना, कहीं बैठना, कहीं मंजिल खोजना होने लगता है, तब प्रारब्ध का प्रभाव कहा जाता है। जीवन में मंजिल है ही नहीं, मुकाम कहीं है ही नहीं। इसलिए थकावट लगती है, भीतर प्रतिकार पैदा होता है। वे जो प्रतिरोध हैं, उनके परिणामों को फिर प्रारब्ध कहा जाता है।

जहां तक हम देख पाए हैं, प्रारब्ध की सत्ता तन और मन तक पहुंचती है, जीवन तक उसकी पहुंच नहीं।

प्रश्न—ये राग और विराग चित्त की एक स्थिति हैं—ऐसे आपने कहा; तो विकल्प और निविकल्प भी चित्त की एक स्थिति क्यों नहीं? निविकल्पता को स्वभाव क्यों कहा जाता है?

उत्तर—राग और विराग एक लकीर के दो छोर हैं। वैसे ही सविकल्प और निविकल्प अवस्थाएं भी एक लकीर के दो छोर हैं। सापेक्ष हैं न? विकल्प न हों तो निविकल्प अवस्था की भी कल्पना नहीं होगी। यह तो सापेक्ष अवस्था हुई। जिसको निविकल्प कहेंगे। स्वभाव यह नहीं है। स्वभाव तो प्रेम है। स्वभाव तो आनंद है—जिस आनंद का सुख-दुःख से कोई संबंध नहीं। और जिस प्रेम का राग-विराग या सविकल्प-निविकल्प अवस्थाओं से जरा भी संबंध नहीं, वह प्रेम हमें मालूम नहीं है। इसलिए सविकल्प के छोर पर खड़े होते हैं, तो निविकल्प महामहिमा-मंडित, गौरवान्वित प्रतीत होता है। खूब उसके गीत गाए जाते हैं। बंधन के छोर पर खड़े होकर मुक्ति के गीत गाए जाते हैं। लेकिन बंधन की अपेक्षा में ही मुक्ति की सत्ता है। बंधन मिथ्या, तो मुक्ति भी उतनी ही मिथ्या है। सविकल्प के छोर पर खड़े होकर जो निविकल्प दिखता है, उसीको स्वभाव मान लिया जाता है। लेकिन स्वभाव वह नहीं है। स्वभाव में द्वन्द्व के लिए अवकाश ही नहीं है। वह निर्द्वन्द्वता है, जिसको द्वैतातीत कहा जाएगा। एकता नहीं, द्वैतातीतता है।

## मौत का भय

प्रश्न—मनुष्य मौत के भय से मुक्त कैसे हों सकता है ?

उत्तर—मनुष्य तो है निरन्तर भय का रोगी । जैसे सर्दी, जुकाम, कोष्ठबद्धता, अतिसार ऐसे रोग पुराने और य प्रमूल हो जाते है, वैसे ही भय भी एक रोग है जिसका मनुष्य शिकार है । किसने कहा कि केवल मौत से मनुष्य डरता है ? मनुष्य तो जीवन से भी डरता है । जीवन से बच-बचकर चलने के जो रास्ते निकाले जाते हैं, उन्हींका नाम तो शास्त्र है । जीवन का सीधा स्पर्श सहन नहीं होता । शीत से, उष्ण से बचने के रास्ते जैसे खोजे जाते हैं न, वैसे जीवन से बचने के रास्ते मानव खोजता प्राया है । बच तो पाता नहीं । वाटर-प्रूफ कपड़ा होता है, वैसे कोई जीवन-प्रूफ उपाय तो निकलते नहीं हैं । अत हों—प्रतिज्ञाएं हों—पंथ हों—संप्रदाय हों—शास्त्र हों—फिर भी जीवन ऐसी अनिच्छद गति से बहता है कि सब को चीर कर, भेद कर, छूने ही पहुंचता है । और जब-जब जीवन हमें छूता है, तब-तब हम डरते है, तब-तब कांपते है, तब-तब सिकुड़ जाते हैं । जैसे जीना कोई मुसीबत हो ।

जीने से डरते हैं, इसलिए मरने से भी डरते हैं । जो सच्चा जीने वाला है वह मौत से नहीं डरता । बात ऐसी है कि मनुष्याकृति में जो हम जानवर है, हमारे में भी पशु-सृष्टि की कई वृत्तियां शेष रह गई हैं । आकृति मनुष्य की होने से प्रकृति मनुष्य की नहीं हुई है । अभी हम कच्चे हैं । मानवता का प्राणय भीतर परिपक्व नहीं हुआ । प्रेम है मानवता का परिपक्व आशय या परिणति । वहां तक पहुंचे नहीं हैं । इसीलिए तो क्रोध, द्वेष, घृणा, संदेह, भय—ये सब हैं । मानव अभी कच्चा है । प्रायः २० लाख वर्ष से मनुष्य इस भूपिण्ड पर है लेकिन लगता है कि यह फल पकने में बहुत समय ले रहा है ।

भय जानवर में संरक्षण देने वाली एक सहज प्रवृत्ति है । पशु हैं, पक्षी हैं, उनके पास बचाव के लिए क्या रास्ता है ? मनुष्य के जैसी आत्म-चेतना उनको है नहीं । सादी चेतना उनको मिली है । तो वे हमेशा बचाव पर रहते हैं । चिड़िया हो, तोता हो, मैना हो, बुलबुल हो—या

हाथी हो, सिंह हो, उनको हमेशा बचाव पर रहना पड़ता है। भय जागरित रहता है निरंतर, तब उनकी चेतना सावधान रहती है—इधर से कोई तो नहीं आता, उधर से कोई तो नहीं आता—जीवन संरक्षण की यह एक प्रेरणा वे भय में से पाते हैं।

मनुष्य को सावधान रहने के लिए भय की मदद लेने की जरूरत नहीं है। उसके पास तो आत्म-चेतना आ गई है। वह अधिक विकसित है। शरीर के संरक्षण के लिए अबधान की स्वतंत्र शक्ति उसके पास विकसित हो गई है जो पशुओं के पास नहीं है। उसका उपयोग करें। लेकिन आदत है न, तो उसी आदत से चलते हैं। शरीर-संरक्षण में भय-मूलक अबधान को रखते हैं। इतना ही नहीं, परस्पर संबंधों में भी यही मान लेते हैं कि संरक्षण का एकमेव रास्ता है लोगों से डरते रहना। जो व्यवहार करता हूँ—उसका परिणाम ?—बया निकलेगा ? हिसाब लगाते रहते हैं। हिसाब लगाते-लगाते जिन्दगी निकल जाती है। जीने की फुरसत नहीं है। जिएगा कौन ? ऐसा करूँगा तो बया परिणाम आएगा, बसा करूँगा तो बया परिणाम आएगा ? यह सब नौकरी और कमाई तक सीमित नहीं है—पति-पत्नी के बीच, पिता-पुत्रों के बीच, तथाकथित मित्रों के बीच यही चलता है। मानवीय संबंध बया हैं—सौदा है सौदा। व्यवहारकुशल यानी वही जो सौदे में चतुर होगा।

भय को लेकर हम चलते हैं। किसीसे मिलते हैं तब भी मिल तो पाते नहीं हैं। हमें भ्रम है कि हम एक-दूसरे से मिलते हैं। एक-दूसरे के सान्निध्य में पहुंचते हैं, पास में पहुंचते हैं, शर्तों का फँकना इधर से उधर हो जाता है। मिलना हो, इतना अबकाश किसके पास है ? इतनी शांति किसके पास है ?

देखते हैं—कि सामने वाला व्यक्ति जो है, इसको इस प्रकार से बात कहें, इस प्रकार से व्यवहार करें तो परिणाम बया निकलेगा ? क्योंकि सब हथारे अनुकूल रहे—अनुकूलता में संरक्षण है और प्रतिकूलता में नहीं है—यह बहुत गहरा भ्रम है—इसलिए सबकी अनुकूलता बनाई रखनी है। अनुकूलता का सातत्य रखना है। सबको राखी रखना है। वहां भी भय को ले गए।

जहां तक हिसाब चलता है, वहां तक हमें लगता है कि यहां निर्भय हो गए। और जहां हिसाब नहीं चलता, वहां कहते हैं कि 'बाप रे! बड़े डर गए!' अब मौत के सामने हिसाब चलता नहीं। वहां चलन नहीं है—पुनर्जन्मक घमरता का सिद्धान्त रखो और जोर-जोर से घोषित करो कि 'आत्मा घमर है—मृत्यु है नहीं'—मृत्यु सिर्फ शरीर की है। घोषित करते रहो! बच्चे अंधेरे कोने में से दौड़ते हैं तो जोर-जोर से राम-राम-राम जपते हैं। वह राम का प्रेम नहीं है, अंधेरे का डर है। वह कोई भक्ति है ?

मौत के सामने कितने ही सिद्धांतों को मनुष्य फेंकता आया है ! 'मस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?' यह भी कहता आया; 'आत्मा घमर है'—वह भी कहता आया—न जाने कितने सिद्धांत ! लेकिन सिद्धांतों को दुहराने से तो भय मिटता नहीं।

मौत का भय इसलिए है कि जीवन का भय है। जीवन का भय इसलिए है कि अपनी पशुवृत्तियों का आघार छोड़ने से डरते हैं। यह बचाव का ढांचा मान लिया है। मय को, क्रोध को अपने संरक्षण का, बचाव का, साधन मान लिया है। यह भ्रम जिस दिन टूटेगा—सुरक्षा के पिंजरे में हजारों साल जीने से क्षण-भर में उन्मुक्तता के साय जी जाने का आनन्द श्रेष्ठ है, यह जिस दिन सप्ताह में आएगा, उस दिन मय टूटेगा। क्षण में और अनन्तता में कोई फर्क नहीं है। जिसको प्राय लीग क्षण के नाम से पहचानते हैं, वही शायद अनन्तता है। अनन्तता को आपकी बुद्धि ने काटा है—कैंची ने काटा है—और उसके क्षण और घंटे बनाए हैं। लेकिन जीवन, जो शुद्ध सत्ता है—उसमें क्षण भी नहीं, पल भी नहीं, घंटे भी नहीं, दिन भी नहीं। जो है सो है। अभी है। यहां है। और अभी नहीं, यहां नहीं,—तो कहीं भी नहीं, कभी भी नहीं।

पल-भर के उन्मुक्त जीवन में जो आनन्द है, जो जीवन की सत्ता है—वह हजारों साल संरक्षण के पिंजरे में शरीर को ढोते रहने में नहीं है, यह जिस दिन सप्ताह में आएगा उस दिन भय की बेड़ियां अपने-आप टूट पड़ेंगी। भय को हमने गौरवान्वित किया है। और स्त्री-जाति के लिए तो भय और लज्जा,—पता नहीं क्या-क्या,—संकोच और विनम्रता

ये सब गुण माने गए हैं ।

ग्रहंकार भय के बिना जी नहीं पाता, और ग्रहंचालित जीवन होने के कारण भय की सत्ता है । जहाँ मन से परे जाया जाता है—जहाँ ग्रहंकार चेतना के बीच घेरा देकर, मालिक बनकर बैठा नहीं है—वहाँ फिर भय और निर्भय, मय और अमय, दोनों से परे जो सहजता है, उसका साम्राज्य है ।

### शिक्षण का मर्म

प्रश्न—अगर आपको सर्वसत्ता के साथ आपोजित रूप से एक बाल-मंदिर से लेकर मैट्रिक तक के स्कूल का संचालन करने का अवसर मिले—तो आप कौसी शिक्षण-प्रणाली अगनाएंगी ? आज की पाठ्यपुस्तकों की जगह आप नई बनाएंगी; धर्म और तत्त्वज्ञान को आप स्थान देंगी ?

उत्तर—बिना निवेदन है कि शिक्षण शास्त्री मैं हूँ नहीं । माँ की जाति हूँ, और माँ की जाति में बच्चों की चिन्ता अनायास ही रहती है । तो कुछ सोचती रहती हूँ शिक्षण के बारे में ।

और आजकल जो शिक्षण है, उसको शिक्षण कहने को मैं तैयार नहीं हूँ । भारत में हो, भारत से बाहर हो, अमेरिका हो, इंग्लैंड हो, योरप हो, जो समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था कुछ सदियों से चली आ रही है—उस अर्थ-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था—उस शासन-प्रणाली को चलाने के लिए जो क्षत्रांची चाहिए, जो मजदूर चाहिए, जो क्लर्क चाहिए, जो लेखे-जोखे चाहिए, उन्हें तैयार करने के कारखानों को कृपा करके शिक्षण संस्था न कहें । मुझे कोई सर्वसत्ता देगा तो भी मैं एक भी स्कूल नहीं चलाऊँगी ।

यदि कोई विद्यालय बनाया ही, तो वह विद्या का आलय या संस्था नहीं होगा—घर होगा, परिवार होगा । परिवार में शिक्षण हो सकता है । ये शिक्षण के जो कारखाने बने हैं, इन स्कूलों, कालेजों से कुछ नहीं होता । गणबद्ध और स्तरबद्ध मस्तिष्क तैयार होते हैं । तो ऐसे मस्तिष्क, विद्युत्-चालित मस्तिष्क तो बन ही रहे हैं । स्मृति को समृद्ध बनाना और जानकारी को ठूस-ठूस के दिमागों में भर देना इसका प्रयोजन बहुत जल्दी



समाप्त होने वाला है। हिन्दुस्तान में देर लगेगी लेकिन जिन देशों में प्रतिवर्ष जाना और घूमना होता है, वहाँ देख रही हूँ कि शिक्षण-संस्थाओं का प्रयोजन बहुत नहीं रहेगा। इनको मैं कारखाने कहती हूँ। हस्त-शिल्प होता है न, ऐसा यह मस्तिष्क-शिल्प है।

यह किसी की भ्रालोचना नहीं है। यह केवल शब्दाकार वेदना है। तो, परिवार होगा, जहाँ बच्चों को यह सिखाया जाएगा कि अपने परिश्रम का संबंध पैसे के मूल्य से कभी लगाने की भूल न करना। परिश्रम का संबंध उत्पादन से है। लेकिन यह जो सारी की सारी दुष्ट अर्थ-व्यवस्था है, जो अद्यतन सपाज की सबसे अधिक दूषित व्यवस्था है, क्या समाजवादी, क्या साम्यवादी और क्या पूंजीवादी देशों में दुष्टचक्र बना हुआ है। और पंसा जीवन का केन्द्र बन गया है। परस्पर विनिमय का माध्यम न रहा, जीवन की उपास्य देवता बन गया है, इसको पहले सत्ताभ्रष्ट करूँगी। यह नहीं कि परिश्रम कुदाली लेकर या तकली और खरखा लेकर ही करेंगे। अद्यतन विज्ञान है। विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान से दुनिया पीछे नहीं हट सकती; हटने की ज़रूरत भी नहीं है। विज्ञान ने और यंत्रों ने मनुष्यों का कुछ नहीं बिगाड़ा है। लेकिन विज्ञान और यंत्र का उपयोग करने की शक्ति अभी तक मनुष्य ने नहीं पाई। वो शक्ति उसको पानी पड़ेगी। विज्ञान की और यंत्रों की मदद से मनुष्यों के संबंधों की कैसे रचना करें—कि जिसमें मय न रहे, आक्रमण न रहे, हिंसा न रहे, यह अभी मानव को समझना बाकी है। यह कैसे बनाएँ—यही सबसे बड़ी चुनौती है, जिसका हल आज तक संसार में नहीं हुआ। लोकतन्त्रात्मक देशों में नहीं हुआ है, और तथाकथित समाजवादी और साम्यवादी देशों में भी नहीं हुआ है। गांधी के देश में इसलिए नहीं हुआ है कि गांधी को इस देश ने कभी स्वीकार किया ही नहीं। उनके बच्चों को समझ नहीं पाए। अपने मतलब के अनुसार जितने अनुकूल थे, उतने ले लिए, बाकी छोड़ दिए। अनुकूल लिए, उतने में भी घाघे समझे होंगे, बाकी न समझे होंगे।

अपने दुनिया अपेक्षा करती है और भारतवासी समझते हैं कि इन बीस वर्षों में हिन्दुस्तान ने गांधी का परीक्षण कर लिया और वह सफल

हो गया, तो खिलवाड़ कर रहे हैं तथ्यों के साथ । अस्तु, इस चर्चा का यह समय नहीं है ।

आपने प्राथमिक शिक्षण से पूछा, मैं तो किडरगार्टन (शिशु-शिक्षण) से कहूंगी, शिक्षण का प्रारम्भ उससे भी पहले होता है । लेकिन एक जटिल प्रश्न प्राप्त लोगों ने उठा लिया ।

पहले तो परिवार होगा, जिसमें उत्पादन किसी वर्ग विशेष का काम नहीं है । आज ही एक उत्पादक वर्ग बना है और दूसरा उपभोक्ता वर्ग है । इस प्रकार का यह जो वर्गगत समाज है—यह कोई जाति या वर्ण-व्यवस्था से बहुत परादा अच्छा नहीं है । वर्ण-व्यवस्था जितनी घातक है, उतना ही घातक यह वर्ण-विभाजन है ।

परिश्रम का मूल्य क्या हो ? कर्म को परिश्रम कहा ही क्यों गया ? व्याख्या बदलनी पड़ेगी । कर्म तो स्वभाव है । जीवन का धर्म है । कभी तन से कर्म होता है, कभी मन से होता है । परिश्रम क्या है ? शारीरिक श्रम, बौद्धिक श्रम ! ले लिए उचार उन लोगों के शब्द, उनके विचार भी उधार ले लिए । वही भुगतने पड़ रहे हैं । इस देश में शिक्षण के नाम पर जो दुर्गति चली है बीस वर्षों में, यह उधारी का फल है ।

यह जो कर्मप्रवण मनुष्य है, इसके कर्म का जो फल निकलता है—यह पैसे से तोला जाए ? या कैसे तोला जाए ? तोलने की जरूरत है ? आज की परिभाषा में कहूँ तो परिश्रम का मूल्य जो माँका जाता है, और पैसे में नापा और तोला जाता है—यह दुष्टचक्र है । इसको तोड़ना चाहिए । ऐसा कहकर विद्रोही बच्चे तैयार करूँगी, जो आज की धर्म-व्यवस्था, व्यापार, वाणिज्य-व्यवस्था सबको तोड़ देंगे ।

तत्त्वज्ञान और धर्म को शिक्षण में दाखिल करेंगे ? यह भी प्रश्न था । जीवन से अलग तत्त्वज्ञान और धर्म को मैं जानती नहीं हूँ । और तत्त्वज्ञान और धर्म को दाखिल करने का मतलब ग्रंथों को और पौधियों को दाखिल करना तो नहीं है । पौधियाँ और ग्रंथ आज भी मंदिरों में, मठों में, देवाश्रयों में, उपाश्रयों में पड़े हैं । एक जगह डेर लगा दें तो आसमान को छू जाए—आसमान को लांघ जाए । तत्त्वज्ञान और धर्म को दाखिल करूँगी या नहीं करूँगी—मुझे पता नहीं है ;—लेकिन

बच्चों को उनके पास मन नाम का जो यंत्र है, उसकी गतिविधि से खूब परिचित कराऊंगी, ताकि उनको विचारों का, विकारों का भय न रहे। और कोई विचार-विकारों की समस्या पैदा हुई—तो कितनी घर्मगुरु के पास या मानस-विश्लेषण के विशेषज्ञ के पास दौड़ना न पड़े। ये स्वावलम्बी, आत्मनिर्भर बन जाएं। मन नाम के हीमा से हमने जो डरना सीखा है वह डर इनके मन से निकल जाए।

लेकिन इस प्रकार बोलती जाऊं तो दूसरे सवाल रह जाएंगे। यह स्वतंत्र शिविर का विषय है—'शिक्षण क्या है'। ये जो वषणालाए हैं—इनको शिक्षण-संस्थाएं कहने को मैं तैयार नहीं। बड़े-बड़े छात्रावास बनाना, और उनमें बच्चों को ठूस देना। यों सारे संबंध दूषित हो जाते हैं। उनका आहार, उनका विहार, उनकी दिनचर्या सब कुछ दूषित हो जाती है।

'आज, पाठ्य-पुस्तकों की जगह आप नई बनाएंगी?' यह भी पूछा गया। पाठ्य-पुस्तक बनाने का अधिकार होता तो बनाती। मेरे पास पूंजी तो मेरी व्यथा और वेदना की है। जान और विद्वत्ता तो है नहीं। पहले ही कह दिया कि शिक्षण-शास्त्री नहीं हूँ। जीवित व्यक्ति हूँ, इतना भर कह दूँ। जो कोई शिक्षण पद में होंगे उनके पास बैठूंगी, उनसे पूछूंगी कि कैसे पढ़ाते हैं। मैं तो गणित भी पढ़ाऊंगी तो कहूंगी कि एक और एक जोड़कर दो होता है—इसको आप निरपेक्ष सत्य मन मानिएगा। यह कहूंगी कि हजारों वर्ष पहले कुछ लोगों ने मिलकर के एक और दो, और तीन और चार ये कड़ियां बनाई, ये प्रतीक हैं। और एक में एक मिला, तो दो हो गए। दो में चार मिला दिए, छः हो गए इनसे अब बच्चों के बुद्धि-मान ( I. Q. ) की जांच करने में लगे हैं। यह सब घंघा पहले बंद कर दूंगी। गणित भी पढ़ाऊंगी तो ठंग अलग होगा। पूछना पड़ेगा शिक्षण-शास्त्रियों से, कि भाई, संकगणित, बीज-गणित, भूमिति का जो मिथ्यात्व है, उसका पहले बोध कराओगे या नहीं? इनकी जो उपयोगिता है, और सापेक्ष वास्तविकता है—इसका बोध कराओगे या नहीं? नहीं तो फिर एक में दो मिलाकर तीन होते हैं, इस प्रकार एक में दो रुपये मिलाकर तीन हो गए, तीन हजार के तीन लाख,

तीन लाख के तीन करोड़, बच्चे उन ग्रंथों के संबन्ध को न जाने कहां तक ले जाते हैं। इस प्रकार पूरी चेतना को भ्रमयुक्त करना पड़ेगा।

लेकिन ऐसे विद्यालय में कोई मां-बाप बच्चों को नहीं भेजेंगे। जिनको यही दायित्व मालूम होता है कि अपने बच्चों को अंकगणित, बीजगणित, भूमिति सिखा दें; भूगोल, इतिहास सिखा दें। कोई डिग्री दे दें। वे ऐसे विद्यालय को क्या मानेंगे? और जिस समाज के नाम से दिन-रात खुद शिकायत करते रहते हैं, उसी समाज में अपने बच्चे अधिक से अधिक प्रतिष्ठित किस प्रकार हों—इसकी व्यवस्था करने की उन्हें चिन्ता रहती है। यह है माता-पिता का दायित्व आजकल। समाज के नाम से शिकायत करेंगे, नेताओं की आलोचना करेंगे, विद्यालयों की आलोचना करेंगे—और उन्हींमें जाकर बच्चा डिग्री लेकर बाहर निकले—मुहर लग जाए उसकी पीठ पर—पीठ पर नहीं, दिमाग पर, सलाट पर, इसकी तो चिन्ता होती है। इसलिए आप चिन्ता न करें कि कोई मुझे कभी सर्वसत्ता देगा।

### परीक्षा-पद्धति

प्रश्न—स्कूलों, कालिजों की परीक्षा-पद्धति अनिष्टकर है। आप सहमत हैं?

उत्तर—इसका जवाब तो पिछले प्रश्न के उत्तर में लगभग आ गया। जब तक आपकी समाज में प्राप्त करने की, मुकाबले या तुलना की वृत्ति है तब तक स्कूलों में परीक्षाएं रहने वाली हैं। यह तो सहज-सी बात है। मनुष्य को यही सिखाया गया है कि तू दूसरों के साथ अपनी तुलना कर। और तोलने के लिए समाज के बने-बनाए नाप-तौल ले लेना। तौलने में जितना उतरेगा, उतनी ही तेरी कीमत है। यही तो मनुष्य को सिखाया है। यही सिखाते आए हैं न? आपकी अपनी अपने में कोई सत्ता है, अपना अपने में कोई जीवन है—जो निरपेक्ष है—वह किसीपर निर्भर नहीं है, जो स्वायत्त है प्रात्मनिर्भर है, यह कोई कहता है, कोई नहीं सिखाता। तो दूसरों की आंखों में अपनी कीमत कितनी आंकी जा रही है, यह देख-

देखकर लोग जीते हैं। आप ही का बेटा प्रथम श्रेणी में नहीं आए, तृतीय श्रेणी में आए, तो आपकी नजर से उतर जाता है। और गोरी चमड़ी का मूल्य हो और बच्चे का वर्ण कृष्ण हो, तो कीमत उतर जाती है, आपके दिल से। मनुष्य की अपने-आपमें कोई सत्ता है, गौरव है, या नहीं? मानव मानव है—इसलिए उसका मूल्य नहीं है?

पूँजीवादियों ने मानव को एक नाप-तोल से नापा, और साम्यवादी दूसरे नाप-तोल से नापते हैं। नाप-तोल बदल देने से जो परिस्थिति है—वह नई बदलती। घमं और अघ्यात्म का यही प्रयास है कि मनुष्य को यह सिखाए कि तुझमें चैतन्य सत्ता की एक रश्मि है—जो अपने-आपमें प्रालोकित है। तेरा अपने में होना ही कृतायंता है। और अपने में होता हुआ जीता चला जा। यह सिखाना शिक्षण है। फिर उसके लिए परीक्षाओं की जरूरत नहीं पड़ेगी। लेकिन जहां समाज की सत्ता ही, प्राप्ति स्वत्व, स्वामित्व तक है, वहां तुलना रहेगी; इसी समाज में नहीं, संसार के सभी देशों में। तुलना, प्रतियोगिता, महत्वाकांक्षा बड़े प्रतिष्ठित जीवनमूल्य हैं। इन तीन असुरों को जब तक नहीं हटाते, तब तक नया मानव समाज बनेगा नहीं।

## भारत की गरीबी

**प्रश्न**—भारत की गरीबी के लिए कौन जिम्मेदार है?

**उत्तर**—मैं, और आप। हम सब। और हम अपनी नासमझी से जिनको अपने प्रतिनिधि चुनते आए हैं—बीस वर्षों तक—वे। अपने स्वार्थों के लिए, छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए, ऐरे-गैरे, नत्पू-खैरे, गुप्ते, धावारा, लोभी-लालची—सभी प्रकार के लोगों को हम चुनकर भेज देते हैं। केवल पाटियों के सिक्के से नहीं, पहले अपना स्वार्थ देखते हैं। चुनाव-क्षेत्र कैसे बनते हैं, उनके उम्मीदवारों से क्या सम्बन्ध हैं, चुनाव कैसे होते हैं, यह सब न पूछिए मुझसे। लेकिन जिम्मेवारी मेरी और आपकी है, यह नादानो का घंघा है जो जिम्मेवारी दूसरों पर डालते हैं। और जो बालिग हैं वह कहता है—'मैं जिम्मेदार हूँ।' कोई मुझसे सवाल पूछेगा तो मैं कहूँगी—'मैं हूँ जिम्मेदार।'

मैं तो आदि-मानव के शरीर से लेकर आज के मानव तक जोती भी चली आई हूँ न ! जो मानव ने आज तक किया, उसके द्वारा मैं भी जोती चली आई हूँ। कैसे इन्कार करूँ कि भारत की गरीबी के लिए जिम्मेदार नहीं हूँ ?

प्रश्न— क्या इसकी कोई भी मिल सकेगा ? शोषणमुक्त समाज एक कल्पना मात्र लगता है। इसलिए आपके विचार यहाँ बँठा हुआ एक अर्थशास्त्री नस्रता से जानना चाहता है।

उत्तर— शास्त्री भी नस्र होते हैं ? मनुज प्रश्न पूछने वाले व्यक्ति से नहीं है। जो ज्ञान का बोझ और विद्वत्ता का बोझ ढोता है, वह कभी नस्र नहीं हो सकता। दिमाग में ज्ञान का बोझ बहुत ज्यादा हो जाता है। सहा नहीं जाता है। आचरण में उतरता नहीं है और उभर आता है। जैसे पित्त उभर आता है, वैसे ज्ञान उभर आता है। ग्रन्थियों के रूप में। ये शरीर में ग्रन्थियाँ जो होती हैं न; बुद्धि में निरीक्षण, खामख्या-लियाँ, सनक ये सब ग्रन्थियाँ हैं।

गरीबी के लिए, बाह्य परिस्थिति में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से देखेंगे तो अनेक कारण मिलेंगे। बेचारे अंग्रेजों का राज तो है ही पहली गाली देने को कि डेढ़ सौ साल की हमारी गुलामी थी, उसने ऐसा किया। मुगल आए— मुसलमान आए— उन्होंने ऐसा किया। इसलिए हम गरीब हैं। अब इससे इन्कार कैसे करेंगे ? ऐतिहासिक तथ्य है। तो ठीक है। मान लीजिए और एक हद तक सही भी है। लेकिन उससे पहले गरीबी नहीं थी क्या ?

लगता है कि इसके मूल में वे हैं जिन्होंने जीवन को दो सत्ताओं में बाँटने का अघराघ किया, कि यह परमार्थ है, यह अध्यात्म है, और यह भौतिक जीवन है—यह माया है—यह मिथ्या है। आत्मा की दृष्टि से सब एक हैं, लेकिन व्यवहार में सबकी श्रेणियाँ अलग-अलग हैं। और विघाता नाम की कोई एक सत्ता है। उसकी इच्छा से सब चलता है। मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। नियति है। और मनुष्य गरीब है तो विछले जन्मों के कर्मों से गरीब है। यह सब जो नियतिवाद चला और जीवन को द्वि-सत्तावाद में बाँटने का क्रम चला, इससे भी समाज में गरीबी पैदा हुई।

आधिक गरीबी भी, और सांस्कृतिक गरीबी भी। ठेकेदार बन गए। ज्ञान के, प्राध्यात्मिक संपत्ति के ठेकेदार ब्राह्मण बन गए—शासन की सत्ता के क्षत्रिय बन गए—वाणिज्य एक अलग वर्ग का अधिकार रहा।

तो मुझे ऐसा लगता है कि अनेक घटक हैं—जिनको खोजना और देखना पड़ेगा। और हमारी, यानी भारतवासियों की वृत्ति में आलस्य, तंद्रा, जड़ता बहुत जबरदस्त है—जिसको हम तमोगुण की अधिकता बगैरह कहते हैं। लेकिन यह जड़ता है—उसके कारण शरीर का और बुद्धि की शक्ति का जैसा उपयोग करना चाहिए, वैसा हम करते नहीं हैं। बड़े आलसी लोग हैं हम। तो कुछ स्वभावगत खामखालियां बन गईं। नियतिवाद की प्रतिष्ठा धर्म के नाम पर हुई। ठेकेदारों के, पुरोहितों के वर्ग बन गए।

समाज में गरीबी तो है। तो मोटे तौर पर कहती हूँ—'यह कोई कैसे मिटा सकेगा?' इस प्रश्न के पीछे गरीबी मिट नहीं सकती? यह स्वभाव तो नहीं है। गरीबी मिटाने का दर्द अपने देश में किसीको नहीं है। अपवाद रूप व्यक्तियों को छोड़ दीजिए। गरीबी मिटाने का किसीको दर्द नहीं। इसलिए गरीबी नहीं मिटी। और यदि कुछ योजनाएं बनी गरीबी मिटाने की, तो योजनाओं के लिए जिन मनुष्यों को लाना पड़ा उनको अपनी अमीरी की चिंता जनता की गरीबी मिटाने से ज्यादा रही। इसलिए योजनाओं का भी उपयोग नहीं हुआ। फिर वह खादी आंदोलन की योजना हो, नई तालीम की हो, सामुदायिक योजना हो या जो कुछ हो—देखिए न, बीस वर्षों का इतिहास। जिसको हाथ लगाया उसको स्वार्थ से दूषित किया। जिसको हाथ लगाया उसको सत्ता की लालसा ने भ्रष्ट कर दिया। कुछ बन भी पाया?

तो गरीबी मिटाना असंभव था, इसलिए गरीबी नहीं मिटी—यह मत समझिएगा। मिटाने का प्रण नहीं है, गरीबी का दर्द नहीं है।

हां, वे लोग भी हैं जो फकीरी और गरीबी का अंतर नहीं समझ पाए, इसलिए यह समझते हैं कि फकीरी की बात करने वालों ने गरीबी

की ही बात कही। गरीबी की उपासना इस देश में कभी नहीं हुई है। यह भ्रम है। यह मसलों को उलझाना है। फाकाकशों की कभी इस देश में प्रतिष्ठा नहीं हुई। फकीरी अलग ही चीज है। लेकिन हां, ना-समझदारों में भ्रत, प्रतिज्ञाएं और फकीरी की जो दिखावट है, जिसको गरीबी कहते हैं,—इन सबके प्रदर्शन से समाज में एक वातावरण पैदा कर दिया।

तो, मैं नहीं समझती कि गरीबी मिटाना असंभव है। "शोषणमुक्त समाज आज तक बन नहीं पाया है। एक कल्पना लग रहा है।" नहीं बन पाया। यह ठीक है। नहीं बन पाया इसलिए कि शोषण की जड़ें बाहर खोजते गए, भीतर खोजी नहीं। बाहर उसकी जो शाखाएं हैं, उनकी काट-छांट न करें, यह नहीं कह रही हूं। वह काट-छांट भी अनिवार्य है। लेकिन जड़ें भीतर हैं। युद्ध की जड़ मनुष्य के चित्त के भीतर है। वैसे गरीबी की जड़ भी मनुष्य के चित्त के भीतर है। वहां तो उसको छुआ नहीं। और जिन्होंने छूने की कोशिश की, वे समाज से हटकर गुफाओं में, मठों में, मंदिरों में जा बैठे। उन्होंने जड़ें हटाईं कि नहीं, कौन जानता है ?

तो मनुष्य के व्यक्ति के भीतर जो शोषण की जड़ें हैं—इनको देखकर हटाया नहीं गया। शोषण की जड़ें जो अर्थ-रचना में और शासन-व्यवस्था में आई हैं—उनको हटाया नहीं गया। कैसे शोषण-मुक्त समाज बनता ? हां, आज तक नहीं बना है—यह सही है। आज तक नहीं बना है, इसलिए प्रागे नहीं बनेगा ?—तो जिनको आस्थावाद और निराशावाद के भूले पर बैठना हो, वे बैठें। हमें जीने से मतलब है। निराशा छूती नहीं। और आशा के खेल खेलने की फुरसत भी नहीं।

कहना यह चाहते हैं कि गरीबी भी मिट सकती है। शोषण भी मिटाया जा सकता है। मनुष्य सचमुच चाहता हो तो। यदि जड़ों को टटोलने के लिए हमारे साथ तैयार हो तो। जड़ें दिखाई देने पर उनको हटाने के लिए आगे-पीछे न हटता हो तो। अपने ऊपर जब बीतती है न, तो पीछे हटते हैं। अपने ऊपर जिम्मेदारी लेने की जब बात आती है—तो फिर आदमी का उत्साह हट जाता है। क्रांति का प्रारंभ दूसरों



से करना है। दूसरों की गरदन उतारने से करना है। व्यवस्था के बदलने से करना है। सत्ता के हस्तांतरण से करना है। अपने से तो नहीं।

तो यह कल्पना मात्र आज भले ही लगता हो, और आज तक के मनुष्य यह करने के लिए समर्थ न हुए हों, इसका मतलब यह नहीं कि हम भी नहीं होंगे। हम कहां पैदा हुए थे आज तक ?

२

स्थान

बिहार सरोवर, बम्बई

ता० २७-२-७० से १-३-७० तक

सहजीवन-शिविर



## प्रथम प्रवचन

२७-२-७०

### जीने की अभिमुखता

जीने की अभिमुखता अन्तरंग में जागरित होने पर अवसर उपस्थित हो जाते हैं। सत्य समझने की जिज्ञासा का हृदय में होना, आत्म-जिज्ञासा का हृदय में जन्म लेना, एक घटना है। किसी कर्म से फलित न होने वाली घटना है। सत्य समझने की जिज्ञासा जिसके हृदय में जागरित हुई उसका जीवन फिर पहले जैसा (जिज्ञासा का जन्म होने से पहले जैसा था वैसा) नहीं रह सकता। जिज्ञासा एक वैचेनी पैदा करती है, एक असन्तोष का तूफान उठाती है। सारी चेतना को एक वैचेनी व असन्तोष घेर लेते हैं। जीवन के दूसरे विषय फीके पड़ जाते हैं। शारीरिक और मानसिक आदतों के कारण मनुष्य जीता चला जाता है। विषयों के सम्बन्ध में व्यवहार करता चला जाता है। लेकिन एक शूल उसके अन्तस् में चुभता रहता है—सत्य की जिज्ञासा का। वह शूल एक ऐसा घाव पैदा करता है जो सत्य की उपलब्धि के बिना भर नहीं सकता। अन्ध कोई उपाय नहीं है उसके भरने का। आत्म-जिज्ञासा का, सत्य-जिज्ञासा का जन्म हृदय में होना एक बहुत दुर्लभ वरदान है।

जिज्ञासा का जल चेतना के सभी स्तरों में प्रवेश करता है। जिज्ञासा जब समग्र में प्रोतप्रोत हो जाती है, तब वह अभिमुखता बनती है। जिज्ञासा का समग्रता में प्रोतप्रोत हो जाना ही सर्वांग में अभिमुखता का संचार होता है। जीवन को समझने की अभिमुखता ज्ञान के संग्रह से तृप्त नहीं होती। विचारों को पढ़ने से, दूसरों के अनुभव सुनने से, व्यास और

जाग उठती है, बुझती नहीं। सभी मानवीय सम्बन्ध या वस्तुओं के साथ के सम्बन्ध सत्य को खोजने के अवसर बन जाते हैं। फिर कोई आपत्ति नहीं, कोई विपत्ति नहीं। अन्तर में सुलगी हुई जिज्ञासा के आलोक में सर्वांग अभिमुख हो जाता है। सत्ता का स्पर्श पाने के लिए प्राप्त हो उठता है।

जिज्ञासु होना, अभिमुख बनना, कोई शब्दों का खेल नहीं है। कल्पना का विलास नहीं है। यह जिसके व्यक्तित्व में घटित होता है, वह व्यक्ति बदल जाता है। उसका अन्तर कलेवर बदल जाता है। बुद्धि और ज्ञान का संग्रह करना, विचारों का संग्रह करना, सिद्धान्तों का संग्रह करना, अनुभूतियों का संग्रह करना—यह सब उसको निष्प्राण-सा लगने लगता है, निस्तेज लगने लगता है। उससे सुष्टि नहीं मिलती, पुष्टि नहीं मिलती। भ्रूसा-प्यासा रह जाता है जिज्ञासु। तो, जिज्ञासा का आलोक सर्वांग में अभिमुखता की धातुरता का निर्माण करता है। देखा यह गया है कि उत्कट अभिमुखता में से ही अवसर खिलते हैं, फूलते हैं, फलते हैं। अवसर की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है कि कोई उसे लाकर आपको दे देगा। किसीकी सामर्थ्य नहीं है कि आपके लिए अवसर को उपलब्ध करा दे। यह आपकी जिज्ञासा की उत्कटता ही है। अभिमुखता की उत्कटता ही है, जो अवसर बन जाती है। यह जिज्ञासा की अभिमुखता, अभिमुखता से अवसर की उपलब्धि—यह हर व्यक्ति का अनुभव हो सकता है। यहां आने में मेरी तरफ से किसीपर कोई एहसान नहीं है। यह आपकी उत्कट अभिमुखता अवसर बनकर खिली है, फूली है, फली है। उसको देखने का आनन्द लूटने में प्राई हूं। कुछ देने के लिए नहीं। दिया जाता भी नहीं है, पाया जाता है।

समय थोड़ा है। तीन दिन ही रहना है। प्रवचन तीन होंगे। इसलिए मेरे निवेदन में संक्षेप रहेगा। भाषा में कुछ कठिनाई मालूम हो सकती है, क्योंकि नये-नूले शब्द रहेंगे। वक्ता और श्रोता दोनों के सावधान रहने की आवश्यकता है। जितना समय साथ रहेंगे, सावधान रहकर बोला भी जाए और सुना भी जाए। वक्ता और श्रोता की उपस्थिति, एक-दूसरे का सान्निध्य और एक-दूसरे के साथ मिलन की इच्छा—इन

में से कुछ खिल उठेगा, निखर उठेगा। यह मानने की जरूरत नहीं कि वह बकता का है या श्रोता का है। मिलन में से खिले हुए फूल है, पुष्प है।

इस तटस्थता के साथ गाप इन प्रवचनों या संवादों को देखेंगे ऐसी आशा रखती हूँ। प्रतिपादन के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। गाप लोगों के परिवर्तन की कोई आसुरी आकांक्षा रखकर नहीं आई हूँ।

### सहज संवाद

यह एक सहज संवाद है। वहिन ने कहा 'सहजीवन शिविर'। क्या हम सहजीवन जानते हैं? क्या सह-अस्तित्व से हमारा परिचय है? सह-अस्तित्व, सह-अवस्थान का अर्थ है प्राकृत सह-अस्तित्व। वृक्ष हैं, बेल हैं, जल-प्रवाह हैं, पहाड़ हैं, पापाण हैं, पशु-पक्षी हैं—इनका सह-अस्तित्व है। वृक्ष सहजीवन नहीं। सहजीवन, सहचारिता, साभेदारी—यह कुछ नहीं। वहाँ केवल प्राकृत सह-अस्तित्व है।

पशुओं में कुछ थोड़ा-सा सहजीवन है, जिसका आधार प्रकृति-गत वासना है। वासना-पूर्ति दूसरे के सहयोग के बिना होती नहीं है। या तो सहयोग प्राप्त करें या दूसरों का शोषण करें। वासना-पूर्ति के लिए दूसरों के सान्निध्य, सहयोग या शोषण की आवश्यकता या अनिवार्यता होने के कारण पशु-सृष्टि में, प्राकृत यानी वासनागत सहजीवन है।

मनुष्य देह धारण करने के बाद वासनागत सहजीवन भी है और उसके साथ मनुष्य ने विचारगत सहजीवन जोड़ दिया है। प्राकृत के वशले थोड़ा-सा सुसंस्कृत सहजीवन आया जो मन की भूमिका पर है। लेकिन आप देखेंगे कि वह भी सहजीवन नहीं है। सहजीवन कहने के लायक वह रहता नहीं, क्योंकि मन यन्त्र है। घाति-मानव से आज तक की मानव-जाति के द्वारा विकसित हुआ एक यन्त्र है, एक करण है, अन्तःकरण है, जिसमें एक गति है। उत्क्रान्ति के क्रम में, विकास के क्रम में, मन और बुद्धि में एक गति संचारित हुई जिसके निर्माता आप नहीं हैं। संस्कारों की, विचारों की, प्रतिक्रियाओं की गति—यह सब मन में भरा हुआ है। इस मन की भूमिका पर रहने वाले विचारों की समानता, भावनाओं या

प्रतिक्रियाओं की समानता को ही सहजीवन मानते हैं। यन्त्रों का सह-जीवन नहीं होता। इसलिए बुद्धि-संचालित या मनः-संचालित जीवन जीने वाले व्यक्ति एकसाथ भले ही एक मकान में रहें, उनका सहजीवन नहीं होता। मन की गति से मुक्त होकर, संस्कारों व विचारों की गति से मुक्त होकर, चेतना के किसी नये आयाम में जब तक प्रवेश नहीं होता तब तक सहजीवन संभावित नहीं।

इसीलिए राष्ट्रों में भी आज सह-प्रवस्थान है, सह-अस्तित्व है। मनुष्यों के बीच, परिवारों के बीच, सर्वत्र सह-अस्तित्व मात्र है, सहजीवन नहीं। सहजीवन की कला और विज्ञान अध्यात्म का विषय है। कैसे जिएं एक-दूसरे के साथ? एक-दूसरे के साथ जीने के लिए पहले अपने-आपको कैसे पाएं जो अपने-आपको ही समझता नहीं, पाता नहीं, वह दूसरे के साथ क्या जीएगा? इन प्रश्नों का विचार अध्यात्म में करना पड़ता है।

पहले अपने-आपको समझना, अपनी समझता को पाना होगा। उस उपलब्धि में से फिर एक सहज स्वाभाविक व्यवहार निष्पन्न होया जिसे सहजीवन कह सकेंगे।

अब आप सोचिए कि आज इस देश में, और दुनिया में, इतनी सारी समस्याएं पड़ी हुई हैं। एक भीषण असन्तोष, बेचैनी, विद्रोह, विध्वंस के आंधी-तूफान मानव की चेतना से टकरा रहे हैं। ऐसे समय किसी 'विहार लेक' पर आकर अध्यात्म का शिविर करने में कोई तुक है? यह मानव-विमुखता है? समाज-विमुखता है? रोम जल रहा है और 'फिडल' बजाया जा रहा है? यह क्यों? यह पहला सवाल है जो आप के भीतर उमड़ता होगा, ऐसी आशा रखती हूं।

जापान हो या अमेरिका। पश्चिम योरप हो या ब्रिटेन या पूर्व योरप, कोई देश ऐसा नहीं जहां आज बच्चों से लेकर बूढ़ों तक असन्तोष, बेचैनी और विद्रोह की ज्वाला न घषकती हो, उसकी लपटों में मानव भुल-सता न हो। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक जिस जीवन-पद्धति का विकास हुआ, अर्थशास्त्र बने, राज्यशास्त्र विकसित हुए, समाजशास्त्र बने, विज्ञान आया, यन्त्र आया; इन सबके प्रति एक सन्देह की निगाह न उठती हो ऐसा देश नहीं। ऐसी सभ्यता नहीं। यह न समझ लीजिएगा कि

हिन्दुस्तान के ही लड़के-बच्चे बड़ा तूफान और विद्रोह कर रहे हैं ।

### जीवन-पद्धति की त्रुटि

सारी जीवन-पद्धति में जरूर कोई कमी है, कोई त्रुटि है, जिसके कारण हिंसा की आग बुझती नहीं है, संघर्ष के तनाव मिटते नहीं हैं, मानव का असन्तुलन समाप्त नहीं होता है और स्वास्थ्य व सन्तुलन का प्रवाह व्यक्तियों में संचारित नहीं होता है । यह सब एक समस्या है । बड़ी खुशी है कि आज की जीवन-पद्धति में कोई कमी है या नहीं, यह देखने की इच्छा जागरित हुई है । धर्म के, राजनीति के, राष्ट्र के नाम से विश्वशान्ति के नाम से, किसीको बहकाया नहीं जा सकता । यह असन्तोष व बेवैनी की आंधी जितनी प्रबल होती देखती हूँ, हृदय बड़ा खुश होता है । ये क्षमज्ञान में उठने वाली ज्वालाएं नहीं हैं । ये आने वाले नये जीवन की सूचना देने वाली ज्वालाएं हैं ।

अच्छा होता ये ज्वालाएं न होंगीं, इनके स्थान पर नन्हे दीप जलते । उनमें स्निग्धता व सौम्यता रहनी । तब हमें व आपको भाता । किन्तु यथार्थता यह है कि दीपक नहीं, ज्वालाएं ही हैं सारे संसार में । यह मैं इसलिए कह रही हूँ कि आप तथ्य देख सकें । कहीं न कहीं रुग्णता, अस्वस्थता मौजूद है जिसके कारण मानव जी नहीं पा रहा है ।

पूरव हो या पश्चिम, समाजवादी देश हो, या तथ्याकथित साम्यवादी, या लोकराज्यात्मक देश हो, कहीं भी मानव जी नहीं पा रहा है—शान्ति से, स्वस्थता से । मानवीय सम्बन्धों में स्वास्थ्य नहीं है, मानव रुग्ण है । यह रुग्ण मानव रुग्ण चित्त लेकर रुग्ण मानव-संसार की समस्याएं हल करेगा ? सवाल तो यही आता है कि आप और हम समस्याओं के उपाय ढूँढना चाहते हैं । विश्वशान्ति के उपाय खोजना चाहते हैं । लेकिन मैं पूछती हूँ कि यह सब सोचने का अधिकार है आपको ? समस्या का यथार्थ दर्शन ही तब तक नहीं होता जब तक चित्त में कहीं तनाव हो, भावनात्मक तनाव हो ।

प्रत्येक तनाव दर्शन को विकृत बनाता है । यह विकृति कैसे आती है ? यह तो आप पदार्थविज्ञानवेत्ता से पूछिए । किसी भी वैज्ञानिक से



पूछ लीजिए । जहाँ कहीं तनाव आएगा, प्रांशों की तथा कानों की नसों में खोभ पैदा करेगा । घ्रापकी देखने की, सुनने की शक्ति को भी वह विकृत बना देता है । समस्या को देखा, उसके बारे में सुना और भावनात्मक तनाव पैदा हो गया । क्या अब ऐसे व्यक्ति को समस्या के दर्शन हो सकेंगे ? सवाल और समस्या को देखने पर त्रिनका सन्तुलन खो जाता है, वे समस्या को सांगोपांग देख भी तो नहीं पाएंगे । भावनात्मक सन्तुलन नहीं खोया तो बौद्धिक सन्तुलन खो जाता है । विचारों को घबका लगता है, मूल्यों को घबका लगता है । विचार-प्रणाली की जो कल्पनाएं बनाई हुई हैं वे टूट आती हैं । मूल्यों के मीनार उड़ जाते हैं । तब आदमी देखता है कि बुद्धि में तनाव पैदा हो गया है । इस प्रकार समस्या की उपस्थिति और सान्निध्य में त्रिनका सन्तुलन खो जाता है वे व्यक्ति उपाय क्या होंगे ?

समस्या को तो देखा भी नहीं है अभी, सान्निध्य है उसका । तब भी सन्तुलन खो जाता है । जैसे मृत्यु समीप आई कि होश-हवास गुम । बुद्धिनिष्ठ कहलाने वाले, नास्तिक कहलाने वाले भी, तान्त्रिक-मान्त्रिकों के पीछे घूमते हैं । कोई चमत्कार करने वाले के पीछे दीड़ते हैं । कहते हैं यह भी कर देखो । मृत्यु का भय है न ! फिर नास्तिकता, सन्देहवाद, बुद्धि-प्रामाण्य और भ्रजेयवाद, यह सब समाप्त हो जाता है । घूम रहे हैं होश-हवास गुंवा के । किसी भी प्रकार बचना है । वैसे ही समस्या के सान्निध्य में बौद्धिक या मानसिक सन्तुलन त्रिनका खो जाता है, उनको गम्भीरता का बरदान नहीं मिलता । जब तक कोई न कोई तनाव है, संघर्ष है, दबाव है, तब तक चित्त गम्भीर नहीं हो पाता । हर दबाव की, तनाव की, रासायनिक क्रिया शरीर पर, मन पर होती है । यह तो घ्राप देखते होंगे ।

### गम्भीर समस्या

समस्या गम्भीर है, क्योंकि कोई भी समस्या अब एक देश की नहीं है । एक समाज की नहीं है । सब समस्याएं वैश्विक समस्याएं हैं, विश्वव्यापक बन गई हैं । ऐसी समस्याओं को समझने के लिए, जिनमें गम्भीरता धारण

करने की शक्ति है, सन्तुलन और स्वास्थ्य धारण करने की शक्ति है, ऐसे मानवों की आवश्यकता है। कोई चुनौती, कोई समस्या सामने हो तो ऐसी गम्भीरता धारण करने की शक्ति हममें है या नहीं—यह पहला सवाल पूछना चाहिए। उपाय खोजने का अधिकार बाद की चीज है। शायद उपाय खोजने भी न पड़ें। स्वस्थ और सन्तुलित होकर समस्या को देखने लगेंगे तो समस्या अपने-एक-एक पंखुड़ी खोलती जाएगी। समस्या की पंखुड़ियाँ जैसे खुलती जाएँगी वैसे उसीके भीतर से उपाय भी अपने-आप निकल आ सकते हैं।

यह भी मानना जरूरी नहीं है कि समस्या और उसके सुलभाने के उपाय—ये दो भिन्न तत्त्व हैं। इनकी नितान्त भिन्नता, स्वतन्त्रता, पृथक्ता गृहीत या स्वतःसिद्ध मानने की जरूरत नहीं है। पहला निवेदन तो यह है कि हम और आप सोचें कि क्या हम गम्भीर हैं? गम्भीर व्यक्ति उसे कहते हैं जो चुनौतियों, आह्वानों और समस्याओं के सामने सन्तुलन नहीं खोता, तनाव और दबाव का शिकार नहीं होता।

ऐसी गम्भीरता हममें है यह यदि मान लें, तो आगे क्या? आगे यह होगा कि तब आप देख पाएँगे कि आज कोई भी प्रश्न या समस्या आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक या राजनैतिक नहीं है। इन समस्याओं की जड़ें कहीं और हैं। कहीं वृक्ष हो तो उसकी जड़ें कहां हैं, देखना पड़ता है। उसकी डालियों को देख कर, उन्हीं पर पानी छिड़क कर वृक्ष को जिलाया नहीं जा सकता। अतः खोजना पड़ेगा कि समस्या की जड़ कहां है? वह जड़ व्यक्ति की चेतना में है। उनके लक्षण बाहर प्रकट होते हैं। सामुदायिक सम्बन्धों में, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सम्बन्धों में आज जो त्रिकुटियाँ हैं, वे लक्षण हैं। वे समस्याएं नहीं हैं। जहां जड़ है, समस्या वहां है। बाहर प्रकट होने वाले तो केवल चिह्न हैं।

चेतना में दिक्कत कहां से आई? वहां संघर्ष, तनाव, द्रिसा की जड़ें क्यों हैं? इतनी कटुता क्यों है? इसीलिए कि अपने-आपके साथ संघर्ष है। मनुष्य का अपने साथ ही प्रेम नहीं, परिचय ही नहीं अपना। हम अपने-आपको सचमुच नहीं जानते। सचमुच नहीं पहचानते। माता-पिता का दिया हुआ नाम है। माता-पिता ने, समाज ने, रिश्तेदारों ने

सिखाया है—यह होशियार है, यह मन्द-बुद्धि है, वह सुन्दर है, यह कुरूप है। सब हमने मान लिया। जो संस्कार वे लोग देते आए वे सब मस्तिष्क में पड़े हैं। इन संस्कारों की जानकारी आत्म-परिचय नहीं है।

हमने कभी अपने-आपको पूछा ही नहीं कि यह 'अच्छा' व 'बुरा' विशेषता लगाने वाला मन क्या है? यह चेतना क्या है? यह 'अहं' क्या है? अन्धों में बूढ़ने से तो होगा नहीं। यह तो अपने भीतर खोजना पड़ता है। सत्य की उपलब्धि होगी तो अपने भीतर होगी, नहीं तो ब्रह्माण्ड में कहीं भी नहीं हो सकेगी।

## हमारी भूल

हमने भूल से यह मान लिया है कि हम अपने-आपको जानते हैं। गुलाम बने हुए हैं मन के, प्रतिक्रियाओं के। और कहते हैं हम स्वामी हैं। ऐसा अन्वाधुन्ध जीवन है। इतनी अव्यवस्था जिनके भीतर है, ऐसे व्यक्ति एक-दूसरे के साथ रहते हैं, तब उसमें से क्या पैदा होगा? तनाव ही तो जन्मेगा। दबाव ही पैदा होगा। कटुता, ईर्ष्या, मत्सर पैदा होंगे। और क्या हो सकता है? तो बहुत विनम्रता के साथ यह कबूल करना चाहिए कि मैं अपने-आपको जानता नहीं हूँ। यानी मैं अपनी समग्रता को जानता नहीं हूँ। मह शरीर है, इसका थोड़ा परिचय है। समग्रता से परिचित नहीं हूँ। मैं सोता हूँ, इतना मुझे मालूम है, लेकिन निद्रा में क्या होता है, और मैं सोया रहता हूँ उस समय भी जागने वाला कौन-सा तत्त्व मेरे भीतर पड़ा है जो सुबह उठने पर कहलवाता है कि मैं सोया था—यह कभी अपने-आपसे पूछते नहीं हैं।

प्रेम की अवस्था में जब अहंकार सो जाता है और मन की समस्त प्रतिक्रियाएं शान्त हो जाती हैं, तब कौन-सी चेतना की शक्ति है जो सहज कार्य करा लेती है? जब हम करते नहीं हैं और कर्म होता जाता है, वह अवस्था क्या है? हम पूछते नहीं हैं। इसलिए पहले विनम्रता से इस सत्य को देखें और कबूल करें कि हम अपनी समग्रता को जानते नहीं।

जो कुछ हम देखते हैं वह दर्शन भी क्षणिक होता है। हमारा एक

अंश पदार्थ के एक खण्ड को देखता है। समग्रता को नहीं। पदार्थ की समग्रता को क्या आंश पूरी तरह से देख लेती है? कान पूरी तरह से सुन लेता है? इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध में विषय की यथार्थता और समग्रता का बोध हो सकता है या नहीं? आपकी आंश को दिखता है, इससे कुछ भिन्न दूरबीन तथा माइक्रोस्कोप को दिखता है। उससे भी अधिक शक्तिशाली यन्त्र का प्रयोग करें तो और कुछ दिखता है। कोई व्यक्ति क्रोध में है, उसे सुन्दर दगीचे में घूमने को कहिए। वह यथार्थतः देखता है? कोई उदास-चित्त व्यक्ति है, और घूम रहा है, वहाँ जल का सौन्दर्य उसको दिखता है?

जब तक चित्त में किसी न किसी वृत्ति की तरंग उठती रहती है, तब तक इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध होने पर भी पदार्थ की यथार्थता और समग्रता हम तक पहुँच नहीं पाती। इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध में जो संवेदन ज्ञान-तन्तुओं ने ग्रहण किए उन्हें मस्तिष्क तक पहुँचाने का काम ज्ञान-तन्तुओं का है। ये ज्ञानतन्तु क्या इनने स्वस्थ, सक्रिय हैं कि संवेदन की समग्रता को मस्तिष्क तक पहुँचा सकें? या किसी अंश को ही पहुँचाएँगे? पदार्थ के साथ आपका जो मिलन होना चाहिए, उस मिलन में दूसरी मर्यादा ज्ञानतन्तु की आ गई। अब मस्तिष्क काम करता है अर्थ लगाने का। उस संवेदन का अर्थ मस्तिष्क लगाएगा। कैसे? उसके पास जो ज्ञान का संग्रह पड़ा है, स्मृति के भण्डार में, उसके आधार पर अर्थ लगाता है। यह संग्रह तो मर्यादित है न! तो मर्यादित अनुभवों के संस्कारों व ज्ञान के आधार पर संवेदनो का जो अर्थ किया जाता है, वह समग्र का अर्थ होगा या अंश-मात्र का अर्थ किया जाएगा? अर्थ करने में उन्मुक्तता थी या संकीर्णता थी? क्रिया-प्रतिक्रियाओं की भी जो पद्धतियाँ भरी पड़ी हैं आपके भीतर, उनके अनुसार फिर आपकी प्रतिक्रिया होगी, वह भी मर्यादित है।

### भावना की मर्यादा

जिसको आप अपना विचार या भावना कहते हैं, उसकी जो मर्यादाएं हैं, उनको समझ लें तो आपके समग्रता का सम्बन्ध बाह्य सृष्टि के साथ

नहीं हो रहा, यह ध्यान (समझ) में आएगा। विषयों के द्वारा सम्बन्ध बनता नहीं है, सम्बन्ध सो मिलन में ले होगा न ! ज्ञान में से, जानकारी में से, सम्पर्क बनता है। यह एक अप्रत्यक्ष प्रक्रिया है। ज्ञान और संस्कार आपको पदार्थ के साथ मिलने नहीं देते। जीवन की यथार्थता से मिलने नहीं देते। ज्ञान और अनुभूति जीवन के साथ मिलन होने में बहुत बड़े प्रत्येक्य हैं। वे आपको अप्रत्यक्ष का रास्ता दिखाते हैं। जैसा उसका अर्थ लगाओ वैसी प्रतिक्रिया करो। नीतिशास्त्र और धर्मग्रन्थों ने तो प्रतिक्रिया की लीकें बना दी हैं। उनमें सुरक्षा है, घत: उनपर चलो।

जीवन के दर्शन में भी मर्यादा है, कमी है; और जो प्रतिवाद है वह भी स्वयंभू नहीं है, वह भी सहज नहीं है। उसमें भी प्रत्येक्य है। और सारे जीवन-भर अर्थात् जन्म से मरण तक वही घन्घा चलता है। इसको हम जीना कहते हैं। शरीर में जो सुषा-तृषा के आवेग हैं वे हमारे अधीन नहीं हैं। उनकी पूर्ति करने में जिन्दगी जाती है। मस्तिष्क में जो आदिमानव से लेकर आज तक गति भरी गई है, विचार, विकार, भावना, संस्कार भरे गए हैं, उनकी गति भी हमारे स्वाधीन नहीं है। उनके भी हम गुलाम हैं। इस प्रकार गुलामी में सारा जीवन निकल जाता है, और भ्रान्त जन कहते हैं कि हम जी रहे हैं, हम जी रहे हैं। निवेदन है कि यह जीवन नहीं है।

जीवन है स्वयम्भू, सहज गति। शरीर के आवेगों पर आरुढ़ होकर क्रिया करना, जीवन की गति नहीं है। भावना और विचार के आवेगों पर आरुढ़ होकर क्रिया करना, यानी—इन्द्रियवश क्रिया, विचार और विकारवश की गई क्रिया, कर्म नहीं है, यह जीवन नहीं है, यह यान्त्रिक हलन-चलन है। तो अपने जीवन की यान्त्रिकता को पहचानना चाहिए। अभी मानव खोज कर रहा है। अभी समग्र मानव का जन्म हुआ कहाँ है ? मानव देहधारी हम सब हैं, लेकिन जिस दिन मानव अपनी समग्रता को अपने भीतर उपलब्ध करेगा और उस समग्रता में प्रतिष्ठित होकर जीने लगेगा, तब कहीं मानवीय सम्बन्ध बनेंगे, तब कहीं मानवीय समाज बनेगा। अभी तो बहुत लम्बी यात्रा है।

जीवन का स्वभाव है निरन्तर गतिशीलता— जो स्वयम्भू है, जो सहज

है, जो बाधित नहीं हो सकती, जो खण्डित नहीं हो सकती, जिसको कोई रोक नहीं सकता। उस गति का स्रोत हमारे भीतर कहां पड़ा है, उस गति का उद्गम स्थान हमारे भीतर कहां पड़ा है ? उसे टटोलेंगे तो हो सकता है कि इस यांत्रिकता से मुक्ति पाकर जीने का पुरुषार्थ हम से भी हो सके।

इस प्रवचन को समेटने से पहले एक बात और कह दूं कि तन का और मन का, तन के आवेगों का और मन के विचारों का निषेध यहां अभिप्रेत नहीं है। हम ययार्थता समझा रहे हैं—कि उनकी मर्यादा क्या है ? स्वरूप पहचान लेना चाहिए न ! नहीं तो उसीको शत्रु मानकर उसके खिलाफ लड़ने में, उसका दमन करने में, उसको पीड़ित करने में हम लग जाएंगे। लोग समझते हैं कि मुक्ति कहीं बाहर है जो लानी पड़ेगी और बन्धन का त्याग करना पड़ेगा। बड़ी भ्रष्टज्ञानिक दृष्टि है। बन्धन के स्वरूप को पहचानने में ही मुक्ति का जन्म है। बन्धन के स्वरूप को पहचानने में, उसके स्वरूप के बोध में ही मुक्ति का प्रारम्भ है। इसलिए तन और मन का स्वरूप समझा रहे हैं, बतला रहे हैं। उनका निषेध नहीं है। तुच्छ भाव से उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं। लेकिन तन में आवेग है, क्षुधा है, तृषा है, काम-लालसा है, जो नीतिशास्त्र की कक्षा से बाहर के विषय हैं। मन में विचार है, विकार है, भावना है, तरंग है—यह नीतिशास्त्र की कक्षा में आने वाला और धर्म की कक्षा में आने वाला क्षेत्र है। लेकिन उसमें भी भावेश है, अभिनिवेश है; स्वायत्त गति नहीं है, स्वयम्भू गति नहीं है।

### जीवन क्या है ?

इतना ही निवेदन आज कर रही हूं कि जिसको आप जीवन कहते हैं वह तन से और मन से परे कहीं होगा। उसकी गति के स्रोत में प्रतिष्ठित होने के बाद तन व मन का उपयोग करेंगे। ये तो यन्त्र हैं, इन्हें फेंकना पड़े ही है ? इतना सुन्दर शरीर मानव को मिला, उससे भी अधिक सुन्दर मन मिला है। उसमें संवेदन ग्रहण करने की शक्ति है, चारण करने की शक्ति है, फिर उसका उपयोग करने की भी शक्ति है। इतनी अनन्त शक्तियों से

समृद्ध मन है, उसका निषेध क्यों करें ? वह करण है, लेकिन उसका उचित उपयोग तब होगा जब उससे परे जाकर समग्रता में प्रतिष्ठित होंगे ।

सत्य जानने की, सत्य समझने की, उत्कट इच्छा, सत्य या धार्मिकता की जिज्ञासा जागरित होना, जीवन में परम आनन्द का अवसर है, मंगल घटना है । जिज्ञासा को समग्रता में अंतर्प्रोत होने को अभिमुखता कहते हैं । यह अभिमुखता जैसे-जैसे उत्कट होती जाती है, गहरी होती जाती है, वैसे-वैसे स्वयं ही अवसर बन जाती है । ऐसा अवसर आज हमें और आपकी मिला, तो इसमें से सहजीवन निष्पन्न हो, यह शुभेच्छा है । सह-अस्तित्व सहजीवन नहीं है । वासनागत और विचारगत सह-अवस्थिति भी सहजीवन नहीं है । क्योंकि उसमें यन्त्र जैसा (यन्त्रवत्) होना है । सहजीवन के लिए मन से परे जाना, और स्वाधीन होना आवश्यक है । स्वाधीन और स्वतन्त्र व्यक्ति ही एक-दूसरे के साथ जो सकेंगे—एक-दूसरे के साथ सहयोग कर सकेंगे । सहजीवन और सहयोग तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्वतन्त्र हो, स्वाधीन हो, परवश न हो, मन-वश न हो, प्रतिक्रियावश न हो । उसके व्यवहार में उन्मुक्तता के प्राण संचार करें, सहजता का सौरभ रहे । ऐसे व्यक्तियों में ही सहयोग, सहजीवन सम्भव होगा । और सहजीवन में ऐसे व्यक्ति जब एक-दूसरे के प्रति अपनी आत्मीयता प्रकट करते हैं, तो उसमें से सहयोग घाता है । सहयोग करना नहीं पड़ता, सहयोग हो जाता है ।

सभी युद्ध पहले मानव की चेतना में लड़े जाते हैं । हिंसा के बीज, संघर्ष के बीज, व्यक्ति की चेतना में न हों तो सामुदायिक सम्बन्धों में संघर्ष और हिंसा पा ही नहीं सकते । व्यक्ति को चेतना की तरफ जाना होगा । व्यक्ति की चेतना में आज संघर्ष और तनाव इसलिए हैं कि अपनी समग्रता का बोध नहीं है । अर्थात् जीवन के किसी भी क्षण में किसी भी गदार्थ का समग्र दर्शन करने की क्षमता नहीं है । क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धों में मन को जो संवेदना ग्रहण होती है और मन जिस पर प्रतिक्रिया करता है उसीको हमने ज्ञान समझ लिया है । उसको हमने जीवन समझ लिया है । इनकी जो आशिकता है और प्रतिक्रिया की जो यान्त्रिकता है, उसको पहचानना चाहिए ।

## प्रथम प्रश्नोत्तरी

२७-२-१९७०

### मन और चेतना

प्रश्न—मन और चेतना में क्या फर्क है ? मन को चेतन, अचेतन या जड़ मानना चाहिए ? मन से परे कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—जड़ और चेतन नाम के दो अलग वर्ग हैं भी या नहीं हैं ? यानी चैतन्यविरहित जड़, और जड़ में प्रकट न हुआ हो ऐसा चैतन्य—इनकी कहीं पृथक् सत्ता है ? जिनको आप जड़ कहेंगे और चैतन्य यानी चेतना कहेंगे, इनका निवास कहां है ? इनकी सत्ता कहां है ? आज के वैज्ञानिक से पूछिए । वह कहेगा कि अणु-परमाणु के विश्लेषण से ऊर्जा ही हाथ आती है । पाषाण के सूक्ष्मतरंग परमाणु में भी चैतन्य की सत्ता है । चैतन्य पर स्पन्दनों का जो स्रवन आवरण लपेटा हुआ है, उसको आप जड़ कहते हैं । अपने मानव देह में चैतन्य के ऊपर जो आवरण है, वह आवरण अस्थियां हैं, मज्जा है, रक्त है, ग्रंथियां हैं, स्नायु हैं । इन सब आवरणों के भीतर चैतन्य है, ऊर्जा है । चैतन्य के लिए मैं ऊर्जा शब्द लूंगी । अंग्रेजी में जिसको Energy कहा जाता है । तो, जड़ और चेतन में सीमा-रेखा बूझने जाएं तो कहीं मिलेगी नहीं । चेतन को छोड़कर दूसरे किसी तत्त्व की, द्रव्य की सत्ता है ही नहीं । कहीं आवरण अधिक स्थूल है और कहीं सूक्ष्म है, इतना फर्क है ।

आप पूछते हैं कि मन में और चेतना में क्या फर्क है ? चेतना पर आवरण है । जैसे पाषाण के परमाणु पर है, वैसे ही चेतना पर है । ये आवरण विचारों के हैं, विकारों के हैं, संस्कारों के हैं । इन सब आवरणों



में आवृत है चेतना । ये सब आवरण हट जाएं और अनावृत चेतना शेष रह जाए तो ? चेतना यदि अनावृत हो जाए तो ? आस्त्रि वसन हैं, परिधान हैं विचारों के । यही तो मौन में देखना होता है । मौन में जब लोग बैठते हैं—मन से लड़ते नहीं हैं । मन को जीतना नहीं चाहते हैं । समझ गए हैं कि मन कोई हमारी निमित्त नहीं है । यह आदिमानव से विकसित हुआ एक करण है, एक यंत्र है—जैसा शरीर है, हाथ हैं, पांव हैं, नाक है, आंख है, कान है, उसी प्रकार मन भी है भीतर । तो इसका तो निर्मूलन नहीं कर सकते । इसको जड़ से उखाड़कर फेंक नहीं सकते हैं । यह तथ्य जिन्होंने पहचाना वे मन से लड़ना छोड़ देते हैं । मन से लड़ने की नादानो, नासमझदारी छोड़कर वे यह देखते हैं कि मन के मौन में क्या घटित होता है । मन की क्रियाओं को देख लिया, विचार को देखा, विकार को देखा, साधना को देखा, वासना को देखा—यदि देखा हो तो । आपको तो फुरसत नहीं है । क्या होता है देह में ? कभी देखा अपने क्रोध को, कभी देखा कि विचार कहां से उठता है ? शब्द के परिधान विचार कब पहनता है ? उसको नाद कब मिलता है, और फिर वह वैशरी वाणी में से प्रकट कैसे होता है ?

विचार से वैशरी तक की यात्रा आपने कभी देखी ? क्रोध को देखा कभी ? ईर्ष्या को देखा ? आपको फुरसत नहीं देखने की कि आपके भीतर घटित क्या होता है ? आघात रहते हैं विषयों के । आघातों के संवेदनों से जो उत्तेजना मिलती है, उसमें आप मशगूल हैं, मग्न हैं ? अनुकूल संवेदन हुआ सुख कह दिया, प्रतिकूल संवेदन हुआ दुःख कह दिया, और सुख और दुःख दोनों में जो उत्तेजना मिलती है वह है आपकी खुराक । उत्तेजना के पुजारी हैं आप । उत्तेजना न मिले तो खोजने जाते हैं । तो उत्तेजना के पुजारी और उपासक हैं । यह नहीं देखते हैं कि उत्तेजना में क्या घटित होता है । जरा एक पल-भर के लिए देखें अपने क्रोध को । या ईर्ष्या को । ईर्ष्या के साथ मुंह में कैसी कड़वाहट आती है । क्रोध आते ही सारे के सारे शरीर में तनाव कैसे पैदा होता है ? खून मस्तक की ओर कैसे दौड़ता है ? आंखों में ललाई कैसे छा जाती है ? आंतों में सिकुड़न-एँठन कैसे आती है ? देखिए तो सही क्रोध का रासायनिक परिणाम ? संतुलन कैसे

खा जाता है ? शब्द ऐसे निकल आते हैं कि घड़ी-भर के बाद उन शब्दों के लिए जीवन-भर पछताना पड़े। आँसुओं से कुछ ऐसा कटाक्ष निकल जाता है कि जिसके लिए बाद में शर्म महसूस हो। क्रोध में, पल-भर के क्रोध में, इतना असंतुलन घटित हो जाता है, लेकिन हम देखते नहीं। हर्ष हुआ तो, शोक हुआ तो, क्या घटित होता है यह देखते नहीं।

यह कह रही हूँ कि मन से लड़ने और मन को जीतने की भाषा अर्बुजातिका है। उसमें शक्ति खोना, समय खोना व्यर्थ है। इसको पहचान कर शांति से जो बैठते हैं, मन की क्रियाओं को, व्यापारों को देखने मीन में बैठते हैं, वे देखते हैं विचारों का आवागमन। देखते रहते हैं तरंगों का उठना और मिटना। दो तरंगों के, दो विचारों के बीच जो अन्तर रह जाता है, उसका प्रनूठा सौंदर्य देखते हैं। उनको फिर पता चलता है कि मन से परे भी एक चेतना का विश्व है। विचारों के, विकारों के, संस्कारों के आवरणों में आवृत और छिपी हुई चेतना ही मनुष्यों का सत्त्व नहीं है। ऐसा एक चेतना का आगम है, जहाँ संस्कार पहुँचे नहीं हैं। विचार, विकार कुछ भी नहीं पहुँचा है। निस्तरंग, निष्कंप, निःस्पंद है वह। मीन में बैठने वालों को ऐसी चेतना के दर्शन होते हैं। यह मनुष्य का सत्त्व है। वहाँ पर जीवन के साथ संबंध अप्रत्यक्ष नहीं होता। जान और अनुभूति की माफ़त नहीं होता है। मिलन में से, साक्षात्कार में से प्रत्यक्ष उठता है और संवाद साधा जाता है।

एक अर्थ में जहाँ अनावृत चेतना की ओर से या गुड चैतन्य की ओर से प्रारंभ करेंगे, तो मन को जड़ कहना पड़ेगा। क्योंकि उसपर विचार और विकारों के आवरण हैं। विचार भी जड़ हैं। विकार भी जड़ हैं। अमी-अभी अमेरिका थी, दिसंबर तक। न्यूयार्क में सभा में कुछ वैज्ञानिक भी आए थे। तो उन्होंने कहा कि हमने यह देखा है कि जब मनुष्य विचार करता है, तो वह भले ही विचारों को शब्दबद्ध न करे, तो भी उसके व्यक्तित्व से एक पदार्थ निकलता है—अव्यक्त, अदृश्य स्पन्दनों के रूप में। जैसे फूलों से सुगन्ध भरती है न ! या चांद से सुषमा भरती है, सुषा भरती है। मैं यह कहना चाहती हूँ कि जड़ और चेतन के बीच कोई ऐसी सीमा-रेखा नहीं है कि जो स्थिर हो।

## समग्रता का जीवन

प्रश्न—१. इंद्रिय, ज्ञानतन्त्र और संस्कार(मन) की कार्य-क्षमता और संवाद की अभिवृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? क्या जीवन की पूर्णता में जीता हुआ व्यक्ति वस्तु के ज्ञान को उसी प्रकार उपलब्ध होता है जिस प्रकार एक वैज्ञानिक ?

२. समाज किस उद्देश्य से प्रतिक्रिया का शिक्षण देता है ? और समाज का जीवन विकसित हुआ या प्रवरुद्ध ?

उत्तर—अपनी समग्रता में जीने वाले व्यक्ति को क्या वैज्ञानिक की भांति उपलब्ध होती है ?

ज्ञान किसको कहते हैं ? 'वैज्ञानिक' शब्द में विज्ञान आया न ? विज्ञान जीवन के तथ्य को खोजने की एक पद्धति है। बाहर की सृष्टि में तथ्य की खोज करने की वह एक पद्धति है। साध्य नहीं है। इसी प्रकार भीतर जो तथ्य है, उसकी खोज के लिए ध्यान एक पद्धति है। ध्यान या समाधि सत्य के खोज की एक पद्धति है। वे जैसे अंतर की खोज की पद्धतियाँ हैं, वैसे विज्ञान बाहर की खोज की एक पद्धति है। अब वैज्ञानिक करता क्या है ? वस्तु के ज्ञान को उपलब्ध होता है। यह कहना यथार्थ है। ज्ञान, याने जिसका अनुसंधान कर रहे हैं, उस वस्तु के संबंध में जानकारी। जिसकी खोज कर रहे हों, उसके बारे में वह जानकारी प्राप्त करता है। उस पद्धति के कुछ विधि-विधान हैं। उनके उपकरण हैं। उससे विश्लेषण करेंगे, उसकी मीमांसा करेंगे। फिर उसमें प्रयोग करेंगे। सूक्ष्मतम यंत्र निकालेंगे, देखेंगे।

समग्रता में जो व्यक्ति जीता है वह वस्तु के ज्ञान को उपलब्ध नहीं करता। ज्ञान और अनुभूति, ये वस्तु के साथ अप्रत्यक्ष संबंध लाने वाली उपाधियाँ हैं। साक्षात्कार से और मिलन से रोकने वाले प्रत्येक हैं। वैज्ञानिक की भांति वह वस्तु को, वस्तु के ज्ञान को उपलब्ध नहीं होता, वह वस्तु को समझता है। आप फर्क तो समझेंगे न ज्ञान में और अकालन में ? जानकारी के संग्रह को ज्ञान कहेंगे ? अपना ज्ञान होगा, परिवार में जो उपाजित किया है ऐसा होगा, ज्ञाति ने कमाया है ऐसा होगा। सारे

समाज का होगा, सारी मानव-जाति का होगा। ज्ञान का संग्रह हो सकता है, समझ का नहीं। समग्रता में जीनेवाले व्यक्ति को ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है। जीवन के ज्ञान का उसको प्रयोजन नहीं है, जीवन के अनुभव-अनुभूतियों के संग्रह का उसको प्रयोजन नहीं है। वह तो प्रतिपल जीता चला जाता है। जो चुनौती सामने आई, जो प्राज्ञान प्राया, जो घटना घटी, उसमें समग्रता के साथ वह जी लेता है। सुख प्राया तो सुख में, दुःख प्राया तो दुःख में। मान-सम्मान में, अपमान में, हर्ष में, शोक में। उसके पास यह भेद-भाव नहीं है कि सुख की मुसकान आई तो प्रिय है, और दुःख के आंसू बहे तो वह अप्रिय है। यह फर्क नहीं है। उसको मालूम है कि दुःख के आंसू बहने में और बहाने में जीवन उतना ही समृद्ध है, जितना सुख की मुसकान में है। इसलिए कहीं भी प्रतिरोध नहीं है उसका। कहीं भी प्रतिकार नहीं है। कहीं भी अपने को संकुचित करके सुरक्षित रखने की आकांक्षा नहीं है।

प्रश्न—वह हमारे जैसा होता है ?

उत्तर—'हमारे जैसा होता है' का अर्थ क्या भाई ?

प्रश्न—क्या वह दुःख में रोता है ?

उत्तर—शरीर में कष्ट हुआ। कांटा चुभा आपके पांव में और समग्रता में जीने वाले व्यक्ति के पांव में। आंसू तो आपके भी आएंगे, उसके भी। लेकिन कांटा चुभा और निकाल दिया, उसके बाद कांटा चुभा था, कांटा चुभा था, यह स्मृति आपके पास रहेगी। उसके पास नहीं रहेगी। आप घर जाकर मित्रों को, परिवार के लोगों को उसका पुराण बना कर कहेंगे। दोहराते जाएंगे। स्मृति में रखेंगे। और वह व्यक्ति कांटा निकाल कर उसमें जो कुछ लगाना था लगा कर आगे बढ़ जाएगा। फिर वह उस घटना को दोहराता नहीं रहेगा। और हम अपने दुःख की, और दुःख की स्मृतियों की पूजा करते हैं। यदि कष्ट हुआ तो कष्ट का इलाज वह भी करेगा। आप जानते हैं कि शरीर को व्याधियां उतना नहीं सताती हैं जितना कि 'व्याधियां मुझको क्यों आईं, कैसे आईं' यह अपनी ग्रहंता को ठेस पहुंचाने वाला सवाल सताता है। शारीरिक कष्ट में अनुकूल संवेदन और प्रतिकूल संवेदन, इस धर्म में सुख

और दुःख शब्द का प्रयोग मैंने किया। तो कष्ट में उसके भी आंसू गिर पड़ेंगे। उसका भी शरीर कांप जाएगा। वह तो जड़ नहीं है न ! उसकी संवेदनशीलता समग्रता में रहने के कारण शतगुणित तीव्र है और उत्कट है। लेकिन वह प्रत्येक क्षण में जीता है और अगले क्षण को पिछले क्षण के अनुभव से दूषित नहीं करता। चाहे सुख का अनुभव हो या दुःख का अनुभव हो, प्रिय हो चाहे अप्रिय हो, लेकिन वर्तमान क्षण में ही शाश्वत समाया है, इसका उसकी भान है। जिसे शाश्वत कहते हैं, अमृत कहते हैं, वह कहीं बाहर नहीं है कि वहां उसको ढूँढ़ें और पाएं। वह तो वर्तमान क्षण में समाया हुआ है। इसलिए वह वर्तमान क्षण को जी लेता है। और फिर आगे वाला क्षण उसी ताजगी से आगे को वह तैयार है। अनुभूतियों के, स्मृतियों के शव संभालने में आपकी जिदगी निकल जाती है। आपका चित्त बोझिल रहता है। कल, परसों यह हुआ था, पिछले वर्ष यह हुआ था। कल यह करना है, परसों वह करना है। आपको भूत और भविष्य से छुट्टी नहीं मिलती है कि आप वर्तमान में जी सकें। और उसके लिए भूत, भविष्य है ही नहीं। वह तो अखंड वर्तमान है।

### अखंड काल

मानव जाति का इतिहास और विकास इस तरह हमने गौर से देखा हो, तो हम पाएंगे कि पहले मनुष्य-देह धारण करने के बाद, मनुष्य को लगा कि यह देह ही मेरा सत्त्व है, वह उसको विकसित करता गया। अपनी इंद्रियों से परिचय, उनकी भूखों से परिचय, उन भूखों को तृप्त करने के साधन, उपकरण, पद्धति यह सब खोजता गया। फिर पता चला कि केवल शरीर की भूख है, शरीर की प्यास है, ऐसा नहीं। और भी कुछ है शरीर के अलावा। मन का पता चला। मनुष्य तो मनन भी करता है, चिंतन करता है, और केवल घटनाओं में से, अनुभवों में से गुजरने में उसे संतोष नहीं। अतः वह हर अनुभव का निष्कर्ष निकालने लगा। फिर मनुष्य सीखता गया। जैसे-जैसे चेतना उत्क्रांत होती गई और मानव देह के मुकाम पर यह विकास पहुंवा, वहां स्व-संवेद्यता आई। स्व-संवेद्यता पशुओं में नहीं है। पशुओं में मन है, बुद्धि है; जैसे हाथी,

घोड़ा, कुत्ता बड़े बुद्धिशाली हैं। बुद्धि है, मन है। मन तो वनस्पतियों में भी है। उनको भी संवेदनशीलता है, आपने देखा होगा। कभी पौधों को प्यार किया हो तो ब्राह्म देखेंगे कि यदि प्यार से उनको जल पिलाते हों, और उनके सान्निध्य में घड़ी-भर के लिए भी रहते हैं तो उन पौधों पर खिलने वाले पुष्प सचमुच हंसते हैं। तो, वनस्पति को जिस दृष्टि से आप स्पर्श करेंगे—दृष्टि से कहती हूँ। दृष्टि से होने वाला स्पर्श सबसे सूक्ष्म, इसीलिए सबसे अधिक शक्तिशाली है। त्वचा के स्पर्श से कहीं अधिक शक्तिशाली स्पर्श दृष्टि का है। तो जिस दृष्टि के साथ आप पौधों के साथ, वनस्पतियों के साथ रहते हैं, उसका परिणाम होता है वनस्पति-जगत् पर। नाद-स्पंदनों का, बिचार के स्पंदनों का, वाणी के स्पंदनों का परिणाम वनस्पतियों पर होता है। संवेदन वहाँ है। और पशु और पक्षी तो सोचते भी हैं, बुद्धि भी है, लेकिन स्व-संवेद्यता नहीं है।

मनुष्य में यह शक्ति है। वह सोचता है, और मैं क्या सोच रहा हूँ यह उसी समय देख सकता है। वह कर्म कर रहा है, और किस प्रकार का कर्म कर रहा हूँ, इसके पीछे मेरा हेतु क्या है, और वह हेतु क्यों है, वह सबको एकसाथ देख लेता है। यही स्व-संवेद्यता की शक्ति है। इसके आधारे पर मनुष्य ने अनेकविध शास्त्रों का विकास किया। नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान जिसको आप दर्शन कहते हैं, मानसशास्त्र, ये सारे के सारे शास्त्र स्व-संवेद्यता के बिना विकसित नहीं होते।

मन ने क्या-क्या किया है? मनुष्य को कहां तक लाकर छोड़ा है, यह बतला रहे हैं। भाषाएं बनीं, क्योंकि अपनी अनुभूतियों के आदान-प्रदान के लिए और अपनी प्रतिक्रिया बतलाने के लिए मनुष्य को प्रतीक चाहिए था। शब्द भी प्रतीक हैं न? शब्द कोई सत्य तो नहीं है। घटनाओं के आघात-प्रत्याघातों को व अनुभवों को निवेदन करने के प्रतीक हैं। जैसे अंक प्रतीक हैं। १—२—३—४—५ ये जो अंक बने, इनमें परस्पर संबंध है। ये भी प्रतीक हैं। एक और एक मिलाने से दो होते हैं और दो और तीन मिलाने से पांच होते हैं, यह निरपेक्ष सत्य नहीं है। मनुष्यों ने अपने संबंधों के नियमन के लिए कुछ प्रतीक बनाए। उसमें से भाषाएं आईं। अंकगणित आया, बीजगणित आया, भूमिति

घ्राई। संगीत घ्राया। घ्रापके संगीत के जो सात स्वर हैं, ये भी संकेत हैं। शिल्प-कला घ्राई, चित्रकला घ्राई। रेखाओं के त्रिकोण, चौकोण के संकेत, रंगों के अर्थ, रंगों के संकेत इत्यादि घ्राए। इस प्रकार मनुष्य-जीवन समृद्ध बनाया गया।

इतने संकेत और इतना सारा विस्तार यह सब स्व-संवेद्यता के भरोसे और मन के भरोसे हुआ है। इसलिए मन की कोई उपयुक्तता नहीं थी, यह नहीं कह रही हूँ। अब मनुष्य को दिन-प्रतिदिन प्रतीत हो रहा है कि मन प्रतीक बनाता जाता है। प्रतीकों के अर्थ समुदाय ने मिलकर जो बनाए हैं, उनको संगृहीत करता जाता है। और उन प्रतीकों के अनुसार व्यवहार करता है। यह एक लीक है, 'चैनल', जिसमें मन काम करता है। इस 'चैनल' से बाहर वह नहीं जा सकता, संवेदन को ग्रहण करना, सेवन करना, संगृहीत ज्ञान और अनुभव के आघार पर उसका अर्थ लगाना, और फिर प्रतिक्रिया करना—यह है मन के काम करने की पद्धति। इसमें फिर चेतन मन घ्राया, अचेतन घ्राया, अर्धचेतन घ्राया, अचेतन घ्राया, सभी घ्राए उसमें। तो फिर मनुष्य अपने-आपको पूछने लगा कि यही हमारा सर्वस्व है? संवेदनों का सेवन करते रहना और ज्ञात अनुभवों के भरोसे उसको प्रतिक्रिया करते रहना, इसके यान्त्रिक पुनरावर्तन में क्या जीना? और जैसे यंत्र-विज्ञान को आगे बढ़ाया गया तो देख लिया कि यह कम्प्यूटर भी करता ही है। Electronic Brain भी तो कर लेता है काम! हिसाब जोड़ लेता है,—गुणाकार, भागाकार कर लेता है, काव्य-रचनाएं कर लेता है, चित्र भी बना लेता है, क्षतरंज खेलता है, जितने भी स्मरण-शक्ति के आघार से होने वाले कर्म हैं, संगृहीत ज्ञान के आघार पर होने वाली जितनी क्रियाएं हैं, वह मनुष्य यंत्र में संक्रमित कर सकता है। और अब तो Computer मानवी भाषाएं सिखा रहे हैं। अमेरिका और रशिया में अभी वैज्ञानिक Code Words के बदले Computers को मनुष्यों की भाषाएं सिखाने के प्रयत्न में हैं। और उनका कहना है कि १९७० तक ऐसा Computer बनेगा जो मनुष्य की भाषा में अपनी रिपोर्ट देगा। इतना यदि ज्ञान को ग्रहण करना, धारण करना भी यदि यंत्र करता है, तो मनुष्य पूछता है कि मुझमें और यंत्र में क्या फर्क है?

मैंने यंत्र बनाया तो मुझमें और यंत्र में कुछ तो फर्क है !

समाज प्रतिक्रियाओं की शिक्षा क्यों देता है ? क्योंकि समाज ने प्रब तक स्व-संवेद्यता की शक्ति को ही मनुष्य के विकास की पराकाष्ठा मान लिया । तो शिक्षण में मन के द्वारा अधिक से अधिक ज्ञान का संग्रह करना, उसमें व्यवस्था, परिमार्जन, परिष्कार, ये सब रखा । यही समाज करता आया है । और अपने मानवीय संबंधों को, जैसे हैं वैसे सुरक्षित रखने के लिए नियम बनाता है । अंतर व्यवहार के अलग नियम, बाह्य व्यवहार के अलग नियम, परिवार के अलग, सामाजिक अलग, इस प्रकार बना के रखे । ऐसा करते हुए समाज जीते चले जा रहे हैं । प्रतिक्रियाओं का शिक्षण समाज क्यों देता है, इस सबाल का जवाब यह है कि मानव का अपने बारे में धाकनन जहां तक पहुंचता है वहीं तक का शिक्षण समाज देता है । और हम बात कर रहे हैं क्रांति की, मन से परे जो चेतना का आधाम है, उसको खोजने की । इस शिक्षण से मनुष्य सुखी तो नहीं बन पाया । उसके व्यक्तित्व में प्रसाद और संतुलन तो नहीं था पाया । संबंधों में प्रेम, स्नेह, सहयोग तो नहीं था पाया । कितनी विचारधाराएं बदलीं । राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीवाद से लेकर साम्यवाद, सर्वोदय तक विचारधाराएं बदलती आईं । यंत्र-विज्ञान और विज्ञान ने कितनी समृद्धि लाकर रखी ? यह यूरोप और अमेरिका में जाकर देख लीजिए । इतनी समृद्धि पैदा कर दी, फिर भी मानव असंतुलित, अशांत है । तो मानव सोचने लगा है कि इससे परे भी कुछ है । आज समाज जो शिक्षण दे रहा है, यह केवल मन को समृद्धि बनाने का शिक्षण है । मन से परे जो चेतना है, उसका बोध, उसका प्रत्यय इसमें से नहीं आ सकता ।

प्रश्न—१. हमारा जीवन सहज, स्वाभाविक और स्वयंभू होना चाहिए । मानव विवेक-शक्ति से अपना जीवन ऊर्ध्वगामी बना सकता है । अगर वह सहज बनाने जाएगा तो क्या उसका जीवन पशुवत् नहीं हो जाएगा ?

२. हमारे ऋषि-मुनिवोंने हमारे सामने जीवन की जो व्याख्या रखी है उसके मुताबिक जीवन जीना क्या योग्य नहीं है ?



## जीवन उधार नहीं मिलता

उत्तर—देखिए, व्याख्या ऋषि-मुनियों की और जीने वाले प्राय और हम । उधार लेकर कभी जिया नहीं जा सकता । ऋषि-मुनियों की व्याख्याएं चेतना में भ्रलंकार रूप से धारण की जा सकती हैं । व्याख्याओं को, सिद्धांतों को, निष्कर्षों को बुद्धि के और चेतना के भ्रलंकार बना-बना के हम तो पहनते ही रहे हैं । मंदिरों में, मठों में जाकर बैठते हैं । सत्संगों में जाकर बैठते हैं । तो पता नहीं वेदांत से लेकर क्या-क्या बातें चलती हैं । वीढ़ों के निर्वाण, वेदांत की मुक्ति, भक्तों के त्रिशिष्टाद्वैत और भक्ति, दुनिया-भर की बातें हम करते हैं । लेकिन जीवन कोई भ्रलंकार नहीं है जो धारण किया जाए । वह तो जीने की वस्तु है । ऋषि-मुनियों की व्याख्या के अनुसार हम जीवन बनाएंगे, यानी हम सत्य की खोज करने की कोशिश नहीं करेंगे । जिस किसी ऋषि-मुनि ने सत्य की खोज की हो और पाया हो, उसने तो अपने लहू का पसीना बहाकर उसे पाया होगा । सत्य की उपलब्धि की कीमत अपने रक्त से चुकाई होगी । हम उनसे उधार लेना चाहते हैं । दिक्कत यह है कि जीवन में दो चीजें उधार नहीं ली जा सकतीं—एक जिज्ञासा और दूसरी अनुभूति । जिज्ञासा उधार लें तो उसमें मति नहीं है । ज्ञानामिरम नहीं है । और अनुभूतियां उधार लें तो उससे पुष्टि, तुष्टि नहीं मिलती है । ऐसे ही भूखे-प्यासे खाली हाथ दुनिया से विदा हो जाते हैं । वाणी में और बुद्धि में खूब संग्रह है । पद्-दशानों का है, उपनिषदों का है, वेदों का है, जिदावेस्ता का है, वाइबल का है । इन सबके आधार पर जीवन बनाना चाहते हैं । लेकिन जीवन बनाया नहीं जाता, जीवन जिया जाता है । और जीवन जीने का मतलब है अपने जीवन में अपने सबीम से तथ्य को पाना, शब्द को पाना ।

प्राय देखिए न ! किसीने कहा कि सत्य बोलो । इसलिए मैं सत्य बोल रही हूँ । तो फिर वह सत्य बोलने का मेरे ऊपर जोर पड़ता है कि नहीं । मुझे अपने-प्राय में विवेक नाम की एक शक्ति जगानी पड़ती है, कि असत्य तो बोलने की इच्छा है । सत्य बोलने का भय तो लगता है, उसका परिणाम क्या आएगा, मां डांटेगी, पिताजी डांटेंगे, पति को बुरा

लगेगा, पत्नी को बुरा लगेगा। फिर अपने ऊपर जोर देते हैं कि नहीं, सत्य बोलना चाहिए। तो ought to का और must का जोर लगाकर जो सत्य बोला जाता है वह क्या सत्य बोलना हुआ? वह क्या सत्य को जीना हुआ? जो देखा, जो अनुभूत हुआ, वह मर्यादा में सहज कह देना। वह अलग है। लेकिन जो देखा है, जो पाया है, उसको कहने की हिम्मत नहीं है, साहस नहीं है, भय लगता है, और फिर थोड़ी जबरदस्ती करके विवेक का हंटर चाबुक चलाकर बोल देते हैं। उसमें सत्य बोलने का आनन्द नहीं रहता। सत्य बोलने का मजा निकल जाता है। बेलरूत गुनाह हो जाता है। उपलब्धि कुछ नहीं। विकृति है। पाखंड आ जाता है। तो किसी एक की व्याख्या के अनुसार कोई दूसरा नहीं जो सकता। यह भ्रम है। यह भ्रांति है। और इसीलिए इस देश में असंख्य लोगों को यह भ्रांति है कि यह देश प्राध्यात्मिक है। ग्रंथ है। ऋषि-मुनि हो गए होंगे। उन्होंने कहा होगा। वह सत्य है कि असत्य है इसकी चर्चा करने नहीं बैठे हैं। क्योंकि प्रश्न में लिखा नहीं है कि कौन से ऋषि-मुनि प्रश्नकर्ता को अभिप्रेत हैं। उनकी कौन-सी व्याख्याएं हैं इसका भी उल्लेख नहीं है। जितनी अपनी उपलब्धि उतना ही अपना जीवन है। जितनी व्यक्ति की उपलब्धि उतना उसका जीवन। और जो अपनी उपलब्धि है उसीमें जीया जा सकता है। दूसरे की उपलब्धि में जीया नहीं जा सकता।

### विवेक क्या है ?

आप कहते हैं विवेक के भरोसे ऊर्ध्वगामी जीवन बनता है। विवेक क्या होता है ?

विवेक का अर्थ क्या? विवेक का प्रयोजन क्या? मेरे मन में कोई इच्छा उठी। वासना उठी। आकांक्षा उठी। परस्पर विरोधी विचार आए। तो इन वासनाओं को, इच्छाओं को समझने के बदले, वे इच्छाएं क्यों उठी भीतर, उसको देखने के बदले, इन इच्छाओं का क्या अर्थ समाज करता है, धर्मग्रंथों में भी इनके बारे में क्या लिखा है, नीतिशास्त्र में क्या लिखा है, यह हम देखने जाते हैं। जैसे गणित करने को दिया लड़कों

को, कि हल करो। तो वह उसका जो उत्तर दिया होगा पीछे वह पहले देखने जाता है। वैसे ही जीवन में समस्या आई और धर्मग्रंथों, नीतिशास्त्रों में उसका उत्तर देख लेते हैं, फिर उसके अनुसार जीने की चेष्टा करते हैं। तो वह गमित करते समय पहले जवाब देखने वाले विद्यार्थी और हममें कोई भ्रंतर नहीं। उसका उत्तर देखने की, बने-बनाए सिद्धान्त तथा विधि-विधान देखने की प्रातुरता क्यों? वह क्यों? मेरा छोटा-सा मिट्टी का दीपक होगा। उसीको लेकर जीऊंगा। दूसरे की सूर्य और चांद की रोशनी मेरे किस काम की? मेरे दीपक के प्रकाश में दो ही कदम सही, लेकिन इन दो कदमों का जीवन कृतार्थ हो जाएगा। तो विवेक का प्रयोजन क्या है जीवन में, वह मेरे समझ में नहीं आता। मेरा और विवेक का अब तक परिचय नहीं हुआ है। कुछ प्रेरणा उठी, इच्छा हुई वह क्यों उठी, क्यों हुई, इसका मेरे जीवन की समग्रता के साथ क्या संबंध है, इसको उल्टर देख लेती हूँ। और जहां जीवन अपनी समझ और अपनी उपलब्धि से जी जाता है, मेरे मित्रों! वहां विवेक का प्रयोजन नहीं रह जाता। उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। दूसरों की उपलब्धि में जो जीना चाहते हैं उनके लिए विवेक आवश्यक बनता है। अब देखिए, उदाहरण ले लेती हूँ। विवाह करने की इच्छा है। और लिखा हुआ है कि ब्रह्मचर्य बड़ा श्रेष्ठ है। तो ब्रह्मचर्य धारण करने का संकल्प किया। जैसे वह भी कोई धारण करने की वस्तु हो। संन्यास धारण करते हैं, ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। कोई परिधान है? अलंकार है? भाषा भी ऐसी विचित्र बन गई है। तो, विवाह करने की इच्छा है। उस इच्छा को ऊर्ध्वगामी बनाना है, इसलिए ब्रह्मचर्य धारण कर लिया।

एक ने विवाह की इच्छा का दमन किया देह दंडन से, तपस्या से, तितिक्षा से। दूसरे ने उसको ऊर्ध्वगामी बनाने की इच्छा की। तो वह भी तो दमन का सूक्ष्म प्रकार है। ऊर्ध्वगमन भी तो अपने ऊपर और डालने वाली चीज है। इसकी गहराई में उतरने जाएं तो वह भी एक स्वतंत्र प्रवचन का विषय है। प्रश्नों के उत्तर देते समय दिक्कत मेरे सामने है कि प्रश्न को समग्रता में लूं। संक्षेप में भी लूं। लेकिन संक्षेप करते समय उसकी गहराई, उसका हार्व भी न छोड़ूं। मेरी अच्छी परीक्षा हो रही

है। लेकिन उसका आनंद है।

मैं यह कह रही थी कि विवेक के भरोसे ऊर्ध्वगामी दिशा भीतर पैदा करनी पड़ती है। सत्य सहज बोलना है। उसको ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए विवेक की मदद लेनी पड़नी है, विवेक का जोर लगाना पड़ता है। मुझे ऐसा लगता है कि अपने साथ थोड़ी भी जोर-जबरदस्ती करनेवाला व्यक्ति, दूसरे के साथ प्रेम और मृदुता से रह नहीं सकेगा। मैं हिंसा-अहिंसा के पचड़े में नहीं पड़ती हूँ। लेकिन जिसको स्वसम्मान है वह अपने साथ जोर-जबरदस्ती कैसे करे? जोर-जबरदस्ती वह करता है जिसका अपनी समझ पर, आकलन पर भरोसा नहीं है। चीज समझ में आ गई, उसके बाद जोर-जबरदस्ती क्यों?

आपने कोई पदार्थ देखा, खाने की इच्छा हुई। गए पास में और देखा तो उसपर लिखा है कि विष है। बड़ा सुन्दर दीक्षता या पदार्थ। आकर्षक था। रंग, रूप, आकार सब कुछ। हाथ लगाने जा रहे थे। और पढ़ लिया कि विष है। उसके बाद अपने पर जोर लगाना पड़ता है कि हाथ पीछे ले लो? और जो खाने की इच्छा हुई थी, क्या उसका नियमन करना पड़ता है? क्या दमन करना पड़ता है? संयम करना पड़ता है? विष है, यह पढ़ने के साथ ही उसका समग्र बोध विद्युत्गति से हो गया। और वह बोध होते ही जाने इच्छा कहां से शांत हो गई! जाने हाथ अपने-आप पीछे कैसे आ गया! यथार्थता का बोध होना और उसके विपरीत इच्छाओं का शमन होना ये दो स्वतंत्र घटना नहीं हैं। एक ही घटना के दो नाम हैं। इसलिए इच्छाओं के, वासनाओं के, आकांक्षाओं के पीछे अपनी जो क्षुद्रता है, अपनी जो अहंता है, अपनी जो छिछलापन है, उसका बोध होते ही विवेक की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। विनम्रता आएगी। और विनम्रता के आलोक में जीवन का एक नया प्रभात शुरू होगा। जिसमें सहजता से जी पाएंगे। अहंकारी लोगों के हाथ में विवेक बड़ा ही शक्तिशाली शस्त्र है। प्रश्न का जो पूर्वाचं है उसको ध्रुव लेना पड़ेगा। मैं उलटी चली थी।

### सहज और स्वाभाविक

पूर्वाचं यह है कि हमारा जीवन सहज और स्वाभाविक होना चाहिए,

यह कहते हैं। वह यदि सहज हो जाए तो क्या जीवन पशुवत् नहीं बनेगा ? पशुओं का जीवन प्राकृत है। उनके जीवन पर प्राकृत वासनाएं हैं। उनका जीवन वासना-संचालित है। भूख लगी, खा लिया। गाय और बंल कब देखने जाएंगे कि खेत मेरे मालिक का है या नहीं। भूख लगी, हरा खेत है, खा लिया। उसने कोई गुनाह नहीं किया है। अर्न-तिकता नहीं की गाय ने या भैंस ने। उनका जीवन वासना-संचालित प्राकृत है। क्षुधा है, तृषा है, ये आवेग हैं। 'आहारनिद्राभयमैयुनञ्चै' इन आवेगों के भरोसे चलने वाला जीवन इसको आप स्वाभाविक कहते हैं।

सहज में और स्वाभाविक में मौलिक अन्तर है। सहज शब्द को बड़ी गंभीरता से देखना चाहिए। सहज शब्द एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। वैसे तो हर शब्द मौलिक है। शब्दों के अन्तरंगों को शब्द ही खुद खोल देता है। अब इसको आप स्वाभाविक कहते हैं। जीवन की कुछ प्राथमिक आवश्यकताएं रहती हैं। जैसे दैहिक और भौतिक आवश्यकताएं। उनके आवेग निरन्तर उठते रहते हैं। उन आवेगों की पूति करके संतुष्टि पाना सहज जीवन नहीं है। यह स्वाभाविक हो सकता है लेकिन सहज नहीं है। जब कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में मन से परे चेतना का एक आयाम है, उसकी गति हर व्यक्ति को उपलब्ध हो सकती है। उस गति में सहजता है। उस सहजता का पशु-जीवन की स्वाभाविकता से कोई मेल नहीं है, तनिक भी साधर्म्य नहीं है। भावनावशता, आवेशवशता यह कोई सहजता नहीं है। विचारों के और विकारों के, तरंगों के अतीत चेतना की एक अवस्था है।

सुबह कहा था कि आपके भीतर की ऊर्जा प्रत्येक क्षण में खर्च होती रहती है। 'शक्ति' खर्च होती रहती है। विचार करने के समय भी शक्ति खर्च होती है। आपके मन में भावना का तरंग उठता है तो शक्ति खर्च होती है। जब मन की क्रियाएं शांत हो जाती हैं, तब यह सारी बिलखी हुई शक्ति स्वस्थान में, अपने स्रोत में वापस आ जाती है। जो विभाजित थी, बिलखी हुई थी, वह अपनी समग्रता में उपस्थित होती है। हमारी समग्रता के आधार में, घरातल में जो शक्ति है, उसकी उपस्थिति हमको मालूम भी नहीं। वह हमेशा बिलखी हुई रहती है। शत दिशाओं में विभाजित

श्रीर बिल्वरी । मन के मौन में वह सारी की सारी शक्ति वापस आ जाती है । श्रीर अपनी समग्रता में उपस्थित होती है । ऊर्जा को अपनी समग्रता में उपस्थित होने का अवसर देना ही मौन का प्रयोजन है । अपनी समग्रता में ऊर्जा गतिशील हो सकती है । समग्रता की स्वयम्भू गति को सहजावस्था कहते हैं ।

विकारों और विचारों के प्रतीत ऊर्जा का अपने मुख्य स्थान में उपस्थित होना पहली घटना है । श्रीर दूसरी घटना है समग्रता का गतिशील बनना । प्रेमावस्था के पल में विचार शान्त हो जाते हैं । मन का सारा व्यापार, बाणों का व्यापार, शान्त हो जाता है, विसर्जित हो जाता है । श्रीर फिर समग्रता ही गतिशील बनती है । वह प्रेम की गति है । फिर अनबोले वात समझ में आ जाती है । ऐसे व्यक्ति के द्वारा कर्म घटित होने रहते हैं । कर्म करने नहीं पड़ते । कर्म करने का प्रयास नहीं करना पड़ता । प्रेम यानी जीवन की प्रयास-रहित गति । कर्मों के घटित होने में ही परितृप्ति है; संतृप्ति है । प्रेमावस्था में घटित होने वाले तथ्य को देखने से पता चलता है कि मन की समस्त क्रियाएं शांत हैं । समग्रता में मौन है । एक नई ऊर्जा, एक नई शक्ति, एक नई प्रज्ञा, एक नया आलोक भीतर जाग उठता है । उसके प्रकाश में कर्म अपने-आप होते रहते हैं । उस अवस्था में कर्मों के द्वारा जीवन से कुछ पाने का प्रयोजन नहीं रहता । जीवित रहने में श्रीर कर्मों का माध्यम बनने में ही संतृप्ति है । किसीके जीवन में यह अनुभूति पल-भर के लिए घटित हो सकती है, तो किसीके जीवन में वह अखण्ड रह सकती है । किसीको एक व्यक्ति के बारे में उसका अनुभव आता है, तो जिस व्यक्ति के लिए एक श्रीर अनेक का भेद मिट गया हो, वह अखण्ड जीवन में इसी दशा में जी सकता है । मन की क्रियाएं शांत होने के बाद ऊर्जा समग्रता में उपस्थित होती है, उसकी गति ही सहजता है ।

**समग्रता से देखना क्या है ?**

प्रश्न— समग्रता से देखने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर— मन से देखना छोड़ दें । मन से देखना जब तक न छोड़े तब

तक समग्रता की पांख नहीं खुलती। हमारा आग्रह मन से देखने का होता है। मन देखता है द्वन्द्वात्मक दृष्टि से। अपने संग्रह में जो ज्ञान या अनुभव है, उनकी पूंजी पर जो भी देखा गया उसका वह अर्थ लगाता है, यानी अपना मूल्यांकन वह वस्तु-स्थिति पर लादता है। अब इस भोल पर हम आए हैं, विहार लेक पर आए हैं, बैठे हैं, तो यह विहार लेक देखी, उसकी जो सीमा-रेखाएं हैं, वे देखीं, नन्ही-नन्ही पहाड़ियां हैं उनको देखा, कुछ थोड़ी हरियाली है उनपर, उसको देखा। यह भी तो एक देखना हुआ। पवन के हल्के-हल्के भोंकों से उठने वाले नन्हे-नन्हे तरंग देखे। यह भी देखना हुआ। और किसीने देखा जल। उसको विहार लेक का नाम याद नहीं और पहाड़ियां याद नहीं। उसकी नजर ठहरती नहीं वहां। वह देखता है जल की मृदुता, शीतलता, प्रवाहिता, और जल से घरती को मिलने वाली शीतलता, सान्द्रता, आर्द्रता भी उसने देखी। और हवा के भोंकों में जल आर्द्रता लाता है यह भी देखा। तो यह भी तो देखना हुआ। किनारे पर आए, हमको बहुत अच्छा लगता है, यह भी एक देखना हुआ। ग्रहम् के केन्द्र में बंठकर जो देखा जाता है, वह तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाता है। ज्ञान का आंचल पकड़कर नूतन अनुभूति को देखने जाते हैं। मन ज्ञान को छोड़कर देख नहीं सकता। ज्ञान में अपने पैरों को जमाकर मन देखता है। उसके पास दूसरी दृष्टि नहीं है। ग्रहंकार प्रत्येक क्षण में यह देखता रहता है कि इससे मुझे क्या मिलेगा। क्योंकि उसने जीवन को कुछ न कुछ प्राप्त करने का, संग्रह करने का, विषय मान लिया है। जीवन के सामने हाथ में तराजू लेकर तौलने बैठा है। यह करूंगा तो यह मिलेगा, यह नहीं करूंगा तो यह नहीं मिलेगा, यह उसका सौदा चलता रहता है और जीवन जीना सौदाबाजों का काम नहीं है। नहीं तो फिर किनारे बैठे रहेंगे, कहां कितना जल है, नापने बैठेंगे। उसकी गहराई नापो। ठंडा कितना है। ताप देखो। कब ज्यादा होगा, कब कम होगा, इसका विवलेषण करो। इसमें लोह ज्यादा है, अन्नक ज्यादा है, कैल्शियम है, चूना है, देखो सब। फिर मैं छलांग लगाऊंगा। तो विवलेषण करते-करते जिन्दगी बीत जाती है। छलांग लगाने की फुसंत ही नहीं मिलती। ग्रहंकार प्रत्येक क्रिया को सौदे के

साधन बना लेता है। जो अपनी समग्रता में से खिलने वाले कर्म को पुष्प समझकर अर्पण करता है, वह जीता है।

समग्रता में जीने वाले व्यक्ति के कर्म स्वासोच्छ्वास जैसे सहज होने हैं। हृष स्वासोच्छ्वास क्यों करें? जीवन-भर इतनी तकलीफ क्यों करें? क्या मिनता है उसमें? यह कोई नहीं पूछता। समग्रता में जीने वाला व्यक्ति कर्म उसी ढंग से करता है जैसे आपके स्वासोच्छ्वास हैं। उससे हो जाया करते हैं कर्म। वह कर्म करता है, यह कहना भी बेकार है।

समग्रता के द्वार तब खुलते हैं जब मन की श्रुटियां और मन के द्वारा होने वाले दर्शन-दोष ध्यान में आते हैं। एक हुई सौदे की इच्छा। दूसरा हुआ ज्ञान और अनुभव का बंधन। तीसरी बात कहूं कि ग्रहंता को संरक्षण का अग्रसन है। अपने आसपास सुरक्षा की दीवारें खड़ी करके अपनी ही सुरक्षा का कंठी बनकर, ग्रहंता मुक्त पाती है। संतोष की स्वास तब लेती है जब चारों तरफ से परकोटा खड़ा कर दिया गया हो। इसलिए मन जब किसी दृश्य को देखता है तो उसमें से कितनी सुरक्षा मिलेगी, कोई खतरा तो नहीं है, इस ढंग से देखना है। सुरक्षा की आकांक्षा भय को जगाती है। मन की एक आंख में भय और दूसरी आंख में सुरक्षा का आकांक्षा रहती है। कहना यह चाहती हूं कि समग्रता की आंख तब खुलती है जब मन के मोन में क्या घटित होता है यह देखने का साहस आप करें। मन की क्रियाएं जिस प्रकार आपके जीवन का एक आयाम बनी हुई हैं, उस प्रकार मोन भी एक नया आयाम है। मोन मन का कोई गुण, या प्राप्त की गई कोई शक्ति नहीं है, सिद्धि नहीं है। चेतना का आयाम है। जीवन का परिमाण है। अब तक तो हमारा परिचय मन के क्रियात्मक आयाम से ही है। चौबीस घंटे मन में जीते हैं। मन के द्वारा जीते हैं। तो शांति से बैठकर, मन की क्रियाओं के शांत होने में घटित क्या होता है और मोन कैसे जी उठता है, यह देखना होगा।

समग्रता की आंखें खुलना, समग्रता में प्रतिष्ठित होना, कोई इने-गिने महापुरुषों का काम नहीं। आपका और मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मानव की कृतार्थता ही मन से परे जाने में और चेतना के नये आयाम में प्रतिष्ठित होने में है। इसको किसीने मुक्ति कहा, किसीने निर्वाण



कहा। मैं वे शब्द नहीं ले रही हूँ। क्योंकि हर शब्द का कोई नाद, कोई भाव है। किसीके चित्त में अनुकूल भाव, किसीके चित्त में प्रतिकूल भाव है। अब उन सब भावों को प्रारंभ उनकी अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं को हटाते-हटाते समय निकल जाएगा। इसलिए वे शब्द नहीं ले रहे हैं तो मन के मौन में क्या घटित होता है यह देखने का साहस करें।

### मन का मौन

साहस कर रही हूँ क्योंकि जब आप बैठेंगे, शरीर में कोई क्रिया नहीं है, तब तो थोड़ा आराम लगता है, क्योंकि दिन-भर दौड़-घूष करनी पड़ती है। जरा आराम। फिर कमरा बंद है, किसीसे बोलना नहीं पड़ता है। थोड़े समय तक तो आराम लगता है। कुछ घाँसे बंद हैं, रूप नहीं देखना है, थोड़े समय के लिए ठीक लगता है। पाँच मिनट हुए, दस मिनट हुए, ग्रहंकार छटपटाने लगता है। बोलना भी नहीं, देखना भी नहीं। हाथ नहीं हिलाना, पाँव नहीं बुलाना, अब मैं क्या करूँ? ग्रहंता को तो क्रिया का व्यसन है, अब उसको कोई विषय नहीं मिलता। बहाना नहीं है कोई। फिर वह स्मृति के साथ खेलेगी। वैसा हुआ था, फिर ऐसा हुआ था। वह चला। या तो फिर ऐसा करूँगी, वैसा करूँगी, इधर-उधर दौड़ना चाहती है। अब आपने उसे रोका नहीं। आपने उसको डाँटा भी नहीं, फटकारा भी नहीं। और वह जो कहती है उसके अनुसार कुछ किया नहीं। वह स्मृति जगाती है भूतकाल की, आप उसमें रस नहीं लेते हैं तो कहती है मैं तो स्मृतियों को जगाती हूँ, यह व्यक्ति रस नहीं लेता है। अब क्या करूँ? यह करूँगी, वह करूँगी ऐसा कहती हूँ, लेकिन उसको रस नहीं, क्या करूँ? बाने भूतकाल और मविष्यकाल में छलांग लगाने की कोशिश ग्रहंता करके देखती है। उसमें भी आप रस नहीं ले रहे हैं। उसमें तदात्मता नहीं है। फिर वह और छटपटाती है। घबराहट होती है। लोगों को अपने साथ बैठने से इतनी घबराहट है कि मौन के लिए भी एकसाथ बैठना चाहते हैं। एकान्त में भी एकसाथ जाना चाहते हैं। अकेले बैठ जाएँ तो? भीतर के दर्शन हों, कुरूपता के, बोभत्सता के, घृणितता के। फिर अपने जो एक भूति बनाई है, अपने बारे में, उसके तो टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे।

एकांत में बैठना और मौन को जी उठने का अवसर देना, यह साहस का काम है, वीरों का काम है यह। मौन में अहंकार को एक तलहीन खाई-सी प्रतीत होती है। उसमें अहंता को होने वाली छटपटाहट को हम महत्त्व देते हैं। तब कभी-कभी दम घुटने लगता है। कभी आंसू आ जाते हैं। कभी दिल की घड़कन बड़ जाती है। हम मानते हैं यह सब पारिरीक लक्षण हैं। वे हैं तो मानसिक, फिर मौन से घबरा करके भागते हैं। नहीं तो कहते हैं कि कोई क्रिया का आधार दे दो। कोई जप करूंगा। चित्त को एकाग्र करूंगा। अहंकार को मिला न कोई साधन ! चित्त को एकाग्र करना है, जप करना है, पूजा करनी है, कुछ करने को दे दो। संसार के नाम से खिलौने थे, हटा लिए, परमार्थ के नाम से दे दो। तब फिर ठीक है। फिर अहंता को जड़ें बैसी ही गहरी चली जाती हैं जैसे संसार में चली जाती हैं। आश्रम में, मंदिरों में, मठों में बैठने वालों के पुष्ट अहंकार देखिए। अपने-अपने गुरुओं की तुलना करते रहते हैं। गुरु-भाइयों, गुरु-बहनों में ईर्ष्या देखिए। मत्सर देखिए। संसारियों से कोई कम दर्प वहां नहीं है। पारमार्थिक प्रपंच चलते हैं। वेदना बोल रही है। ये व्यथा बोल रही हैं। ये मेरे खूब के आंसू बोल रहे हैं कि अध्यात्म के नाम पर यह देश कहां गया है ! कहां जा रहा है !

अहंकार छटपटाना है। इसलिए कहती हूं कि मौन बैठना साहस का काम है। अहंकार को जब खालीपन प्रतीत हो या शून्यता, अंधकार दिखे, तब आप घबराएं नहीं। क्योंकि खालीपन की कल्पना ही अंधकार की है। अंधकार की कल्पना भी अहंता है। कुछ दीखता नहीं है यानी अहंता देख नहीं पा रही है। अनुभूतियां भी तो अहंकार ही लेता है। नाद देखा, रूप देखा, सगुण साक्षात्कार हुआ। निर्गुण साक्षात्कार हुआ। फिर अतीन्द्रिय अनुभूतियां आईं। लेकिन साक्षात्कार भी मुझको हुआ। मेरा साक्षात्कार मेरी अनुभूति। मेरा पैसा, मेरा बैंकबैलेन्स, मेरी प्रॉपर्टी। उसी प्रकार अतीन्द्रिय क्षेत्र में भी प्रॉपर्टी बना ली। इधर यह स्थावर, वैसे उधर की जंगम है।

अध्यात्म नहीं है, यह अहंता का विलास है। इससे बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। तो मौन में बैठने का जब साहस करते हैं, तब

ग्रहंकार के विकराल रूप से परिचय होता है, उससे डरें नहीं। हरेक को उसमें से गुजरना पड़ता है। उसका दम घुटना, उसकी छटपटाहट खूब घोरज से देखनी चाहिए। उसमें यदि आत्मग्लानि या विषाद भाने लगे, वह भी ग्रहंता का एक रूप समझना चाहिए। ग्रंथकार, स्यालीपन, शून्यता की उस छटपटाहट के साथ यदि जीने का साहस करें तो यह सब निकल जाता है। ग्रंथकार की सुरंग में से आपको निकलना होगा, यह निवेदन कर रही हूँ।

समझता की आँखें खुल सकती हैं यदि मन की मर्यादाओं का बोध होकर विनम्रता का संचार होने लगे। उस विनम्रता में मन को मोन रहने देने का साहस होगा। आज साहस नहीं है, क्योंकि धर्म और अध्यात्म के नाम पर अतीन्द्रिय क्षेत्र में कमाई के रास्ते खोल के रखे हैं। रास्ते में धकान, प्यास लगे तो पिलाने के लिए प्याऊ आदि की व्यवस्था भी है। इन सब में न फँसें। यह समझ लें कि अध्यात्म में कुछ प्राप्त नहीं करना है, कुछ छोड़ना नहीं है, कुछ पकड़ना नहीं है। देखना है और समझना है। छोड़ना और पकड़ना दोनों मन की क्रियाएँ हैं। प्रवृत्ति यदि बंधन है। तो निवृत्ति उतना ही बंधन है। मन की सतह पर जो कुछ किया जाए वह यान्त्रिक ही होगा। यदि यह सब समझ में आएगा तो विनम्रता मोन के द्वार खोल देगी।

## हिंसा और अहिंसा

प्रश्न—Why are you up against the Ideal? Has not India won home rule through the ideal of non-violence?

उत्तर—किसी और को पूछने के सवाल मन में हों, और यहाँ पूछे जाएं, तो न उन व्यक्तियों की तरफ से हम जवाब देंगे, देने की श्रुति करेंगे; न हम किसीके निवेदन का जवाब देने की इच्छा रखते हैं। जो हम कहते हैं उसीका जवाब देंगे।

I have not mentioned the word 'Ideal'. I have mentioned the word 'thought', emotion, feeling, patterns of reaction which are all mechanistic activities. And I say, as

long as we indulge in repetitive mechanistic activities, we will not be capable to live and act. Action which flows from the totality of one's own being. Action which has the flavour of spontaneity, which has no motive and no direction. So, thoughts and reactions being mechanistic and repetitive, the challenge to-day is to transcend them. That's the only contention that I have made.

Who says there is non-violence in India ?

इस देश में अहिंसा है ऐसा कौन कहता है ? दूसरे देशों से इस देश के लोग कम हिंसक हैं ? अहिंसा को तो छोड़ दीजिए । गरीबी के कारण, निरक्षरता के कारण, प्रभावशक्तता के कारण, हिंसा करने के शस्त्र नहीं हैं हमारे पास । शस्त्र होते तो हम कोई कम हिंसा नहीं करते । और आज जो कर रहे हैं उसपर से प्रतीत होता है कि हम अहिंसा शब्द का उच्चारण करने के भी अधिकारी नहीं हैं । हां, कोई गांधी या जो कह सकता था 'अहिंसा यानी सृजनशील प्रेम' । हमें तो प्रेम का ही पता नहीं है । सृजनशीलता का पता नहीं है । अहिंसा की बात हम कहां करें ? कष्टना की कहां करें ? दया करने का अहंकार हमारे पास है । कष्टना तो किसी गौतम बुद्ध की चेतना को छू जाती है । तो भाई ! भारतवासियों के चित्त में अहिंसा की कोई प्रतिष्ठा है ? ग्रंथों में प्रतिष्ठा है । मैं कबूल करती हूं । और इसका जितना तात्त्विक, सुन्दर, निर्दोष, तर्क-सुद्ध विवरण इस देश में हुआ है, उतना और किसी देश में नहीं हुआ है । हिन्दुओं से अधिक विवेचन जैनों और बौद्धों के ग्रंथों में है । लेकिन प्रायःका जीवन संघर्षों से और तनावों से भरा पड़ा है ।

जिसके चित्त में एक भी तनाव हो, एक भी दबाव हो, वह अपने साथ हिंसा किए बिना नहीं रहता । मुझे मालूम नहीं कि कभी आपने बैठकर अपने चित्त में कितने प्रकार के तनाव और दबाव हैं, इनको देखा हो । एक क्षण भी हम संघर्ष के बिना नहीं जी सकते हैं । कोई संघर्ष होता है, उधर खींचते हैं, उधर खींचते हैं । उसमें से फिर विवेक करके, संतुलन निकाल के, समझौता निकाल के, सारा जीवन समझौते

के आघार पर जीते हैं। उन्मुक्तता और सहजता तो बहुत दूर रही। जिनको समझौता करना पड़ता है, तनाव और दबावों को या तो छिपाना पड़ता है, या उनकी उपेक्षा करनी पड़ती है, उस चित्त में भला प्रेम प्रवेश करेगा ? और प्रेम का व्यवहार में प्रकट होना ही तो अहिंसा है।

आज संसार में अहिंसा कहीं भी नहीं है। क्योंकि प्रेम की प्रतिष्ठा नहीं है। संपत्ति की प्रतिष्ठा है। सफलता के पुजारी हैं, उसकी प्रतिष्ठा है, सत्ता की प्रतिष्ठा है। शक्ति की प्रतिष्ठा है। जीवन की प्रतिष्ठा नहीं। मानव की प्रतिष्ठा नहीं। और मानव की नहीं, इसलिए प्रेम की भी नहीं। मानव के उपासक पहले बनेंगे। मानव मानव है इसलिए उसकी प्रतिष्ठा होगी। मेरी समझ में नहीं आता कि मानव की प्रतिष्ठा क्यों न हो ? और दिव्यता के नाम पर मानवता की उपेक्षा क्यों हो ? क्या हेय है ? मनुष्य के देह में, तन में, मन में हैय कुछ नहीं है। उसकी मर्यादाएं हैं। यह समझना है। मैंने जैसा प्रारंभ में ही कहा था कि मुझे कहीं पारिव नजर नहीं आता। पारिव के आवरण में चिन्मय की ही सत्ता दीखती है। अब आप यह कहेंगे कि नारियल के भीतर में जो मलाई है, छिलका न रहे, मलाई रहे। नारियल को नारियल कहा जाता है, भीतर की उसकी मलाई के लिए, और ऊपर का उसका छिलका न हो तो उसका भीतर से जीवन भी नहीं रहता। तो इस देश में अहिंसा की प्यास है। हजारों वर्ष पहले जिए होंगे। जीने वाले निकलते हैं इस देश में, यह इस देश का सौभाग्य है। कुछ लोग इतनी सारी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जाने कितने हजारों वर्षों से ऐसे विद्रोही व्यक्ति निकलते हैं कि सारी समाज की मान्यताओं को प्रलय हटाकर अपने प्रत्यय और अपनी उपलब्धि को जीने का साहस करते हैं। यही इस देश का ऐश्वर्य है। बाकी तो अहिंसा बगैरह की बातें हम न करें तो ही अच्छा।

**मौन कैसे करें ?**

प्रश्न—मौन कैसे करें ?

उत्तर—मौन करना नहीं पड़ता, यह पहली बात है। मैं यह कह रही थी कि मौन कर्म का विषय नहीं। मौन किया नहीं जाता। चित्त

की क्रिया की एकाग्रता कर सकते हैं। लेकिन मौन क्रिया नहीं, मौन एक अवस्था है। मौन करने के लिए नहीं बैठते हैं। मौन का जन्म हो सके, इसलिए उसकी अनुकूलता करने बैठते हैं। मौन जहां चरण रख सके, ऐसा घरातल, आघार मौन को देने के लिए बैठते हैं। व्यक्ति २४ घंटों में एकाध बार, दो बार, जब उसकी अनुकूलता हो कोई उसको बीच में रोक-टोक न करे और उससे यह न कहे कि यह मेरा पति है, यह मेरा पिता है, पुत्र है, या बेटी, बहिन है। कोई किसी सम्बन्धों के ग्राह्वान लेकर आक्रमण उसपर नहीं करे। ऐसे शांत समय में एकांत में बैठ जाए। उस समय वह 'कोई' नहीं है। दुनिया के कोई नाते नहीं, रिश्ते नहीं। वह व्यापारी नहीं है, नौकरी वाला नहीं। शिक्षक नहीं, वह समाज का घटक नहीं है। विष्वचेतना की एक रश्मि मात्र है। संसार की दृष्टि से न होने की अवस्था में और अपनी दृष्टि से होने की अवस्था में बैठा है। ऐसा आघा घंटा तो मिलना चाहिए। फिर चसका लग जाने पर जब फुसंत मित्रे तब आदमी बैठ जाता है। शुचि वस्त्रों में बैठे क्योंकि वस्त्रों में भी स्पंदन चिपक जाते हैं। नहा-धोकर शुचि वस्त्रों में बैठें। और एकदम विश्राम की अवस्था में। आघाततः सर्वांग में विश्राम हो। विश्राम भी यदि समस्या बन जाए तो आघात है। आज हमको मालूम नहीं कैसे बैठें, कैसे उठें। शरीर के साथ क्या करें, उसको कैसे चनाएं? कैसे हिलाएं, डलाएं, मालूम नहीं। उसमें सौन्दर्य, सुभगता, उसमें स्वास्थ्य, सन्तुलन कहीं है ही नहीं। शरीरों को ऐसे डोते हैं जैसे कुछ सजा है उनको डीना। आनन्द नहीं है। निरानन्द है। क्रियाओं में से भी तनाव, दबाव, संघर्ष, निरानन्द झोलता है। अब तो बैठना है, विश्रान्त होकर बैठें। मैं शिथिल नहीं कहूंगी। शिथिलता में और विश्रान्तता में मेरी दृष्टि से कुछ फर्क है। तो विश्राम की अवस्था में मैं बैठा हूँ—इसका भान रहे, बोझ रहे, तो नहीं चलेगा। विश्राम में अवधान रहता है। शिथिलता में अवसाद आ सकता है। आने की संभावना अधिक है। डीलापन रहता है। अवधानों को विश्राम देना और उनको डीला छोड़ना प्रलग है। डीला छोड़ने के लिए क्रिया करनी पड़ती है। इसलिए मैंने कहा कि डिलाई-शिथिलता में, विश्राम में सूक्ष्म फर्क है। एक में सावधानता है, दूसरे में सावधानता

के लिए प्रयास करना पड़ सकता है। तो इस प्रकार शरीर को यदि विश्राम देकर घ्राप बैठें। ऐसे बैठने की आदत नहीं है न, तो दो-पांच मिनट में शरीर इधर-उधर हिलने-डुलने लगता है। उसको तो प्रयासपूर्वक ही चलने-डोलने-बोलने की, बैठने-उठने की आदत है। हेतुपूर्वक उठना, हेतुपूर्वक बैठना, यही आदत है न? और यहां हेतु नहीं और शरीर को पांच-दस मिनट रख रहे हैं आराम में। फिर हाथ-पांव ऊपर-नीचे गर्वन इधर-उधर होने लगती है। उसका अभ्यास न होने के कारण कितनी बार हलन-चलन चल-विचल होने लगता है। विश्राम जब सघ जाता है तब घ्राप देखते हैं कि मन से कुछ करना नहीं है। कुछ करने का संकल्प लेकर मन बैठे—मीन होगा, फिर मैं यह देखूंगा तो मुझे वह अनुभूति आएगी, तो जिसको आई थी, रामकृष्ण परमहंस को, गौरांग महा-प्रभु को पता नहीं किस-किसको, रमण महर्षि को, श्री धरविन्द को। तो मुझे मिलेगा, आज नहीं कल। इस प्रकार मीन को साधन नहीं बनाना है। करना नहीं है और साधन भी नहीं बनाना है। तो करने का हेतु लेकर, अनुभूतियों की अभिसंधि लेकर बैठेंगे तो मीन का जन्म हो नहीं सकता। अब घ्राप प्रांख बंद रखते हैं, या खुली रखते हैं, यह प्रश्नी-अपनी रुचि का सवाल है। किसीको प्रांख खुली रखने पर कोई भी विषय दिया तो विचार ही आते हैं, वह व्यक्ति बंद प्रांख रखेगा। कहीं भी उसके आयास, प्रयास, तनाव न रहें। इस ढंग से बैठें। और करने के लिए न बैठें, कुछ बनने के लिए न बैठें। न होने की अवस्था और न करने की अवस्था में प्रवेश करने के लिए बैठें।

## द्वितीय प्रवचन

२८-२-१९७०

### ध्यान क्या है ?

इस देश के अध्यात्म-प्रेमियों का दायित्व और उनके सामने आने वाली कठिनाइयां संसार के अन्य किसी भी देश के निवासियों से अधिक हैं। भारतवर्ष में जन्म लेना और आत्मा या सत्य की उपलब्धि पाना बहुत ही कठिन है। अग्नि-परीक्षा (अग्नि दिव्य) है क्योंकि हजारों वर्षों से आत्मा की उपलब्धि के प्रयास हुए हैं, अनेक प्रकार की साधनाएं की गई हैं। उन साधनाओं की, साधना-पद्धतियों की जानकारी ग्रन्थों में उपलब्ध है। मंदिर हैं, मठ हैं, मस्जिद हैं, धर्मगुरु हैं। संन्यासियों, साधुओं, तथाकथित योगियों की अनगिनत संस्थाएं हैं। इसलिए इस देश में जन्म पाने पर अध्यात्म की तथाकथित परिभाषाएं, शब्द, जलवायु में से ही मिल जाती हैं। इतनी उपलब्धि है आध्यात्मिक परिभाषाओं की कि शब्दों की जानकारी से तथ्य की उपलब्धि हो गई, ऐसा भ्रम हो जाता है। प्रत्येक शब्द की छान-बीन करना, उसके अन्तरंग के साथ संवाद करना, उसके रहस्य का उद्घाटन होने देना—यह बहुत कम लोग करते हैं।

‘ध्यान’ एक शब्द है। मान ही लिया गया है कि ध्यान कुछ करने का विषय है। यह भूल से माना गया है। ध्यान कर्म नहीं है, मानसिक क्रिया नहीं है। लेकिन अनन्त परम्पराएं चलीं। भक्तियोग के नाम पर ध्यान की प्रक्रिया बताई गई—अपने इष्ट की मूर्ति या छवि सामने रखकर उससे तदात्म होना। इसे ध्यान करना कहा गया। हठयोगी हों तो अपने शरीर में जिन चक्रों व ज्योति की कल्पना कर रखी है, उनपर



चित्त को एकाग्र करने को ध्यान कहते हैं। निर्धूत कल्मष अवस्था वाले योगी उस ज्योतिशिक्षा को उपलब्ध होते हैं, यह वर्णन मिलता है। कर्म-योगी, फल की वासना रखे बिना कर्म में रत होने को ही ध्यान समझे बैठे हैं। तान्त्रिक-मान्त्रिकों में मन्त्रों के ध्यान होते हैं, बावन मातृकाओं को प्रणव में संक्षिप्त बनाकर प्रणव पर चित्त को एकाग्र करने को भी ध्यान कहा गया है। न जाने कितनी पद्धतियां हैं, जिनमें ध्यान शब्द को क्रिया व कर्म के साथ जोड़ा गया है !

• ध्यान कर्म नहीं है। यह तो सम्पूर्ण व्यक्तित्व की एक अवस्था है। एक दशा है। जिस प्रकार मन की भूमिका पर रहने वाली दशा में अक्षण्ड तरंगों का उठना और मिटना देखते हैं, इसे ही मन का स्वभाव मानते हैं, इसी प्रकार मन से परे जो चेतना का आयाग है, उसमें ध्यान-दशा ही रहती है। मन का स्वभाव जैसे संकल्प-विकल्प करना है, उसी प्रकार मन के मौन में चेतना का जो हिस्सा जागरित हो जाता है, उसका शील या स्वभाव है निस्तरंग, निष्कम्प, निस्पन्द अवस्था। अतः ध्यान समग्रता की अवस्था है, मानसिक कर्म नहीं है। मानसिक कर्म धारणा तक जा सकता है। यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तक ही किसी विषय को, किसी कल्पना को, किसी गुण-रूप-रंग-प्राकार आदि को अपनी वृत्ति में धारण करना संभव है। फिर उसमें एकाग्र होना ही धारणा है। यहीं तक मन की क्रिया जा सकती है।

इसमें अहंता की लुप्टि और पुष्टि है। इससे आगे की बात यह है कि एकाग्रता से शक्ति बढ़ती है। आज हमें अपने तन व मन का पूरा परिचय नहीं है। शरीर में ग्रन्थियां हैं, स्नायु हैं, मज्जा है। उनसे आज हम जितनी शक्ति का उपयोग करते हैं, उससे अनन्त गुनी अधिक शक्तियां हैं उनमें। योगाभ्यास करने वाले जानते व देखते हैं उनको। उसी प्रकार मन में अनन्त शक्तियां छिपी हुई हैं। आज जिन शक्तियों से हमारा परिचय है, जिनका अंशमात्र उपयोग करते हैं, वे ही मन की समस्त शक्तियां नहीं हैं। जो एकाग्रता का अभ्यास करते हैं, धारणा को विकसित, परि-मात्रित, समृद्ध बनाते हैं, उनकी शक्तियां बढ़ जाती हैं। दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, दूरसों के विचार शब्दबद्ध होने से पहले ही स्पन्दनों में से उनको

पकड़ लेना इत्यादि, न जाने कितनी अतीन्द्रिय शक्तियाँ हैं! इनका आकर्षण लोगों को है, इसलिए धारणा को ही लोग ध्यान समझते हैं।

एक कारण और भी हो सकता है कि पतंजलि के योगसूत्र का जो पहला सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—उसको गलत समझे हैं। समझ बैठे हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। योग चित्त की एक ऐसी अवस्था है जिसमें चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। यही पतंजलि के 'योग' शब्द का अभिप्रेत अर्थ है, पर कोई जानता नहीं, कोई लिखता नहीं। निरोध करना है, ऐसा मानकर सारे दुन्द, सारे संघर्ष, सारे तनाव खड़े कर दिए गए।

### ध्यान चेतना की अवस्था है

ध्यान कोई कर्म का विषय नहीं है। ध्यान चेतना की एक अवस्था है, जिसमें संकल्प-विकल्प की तरंगें उठतीं नहीं। यही स्वास्थ्य है, यही सन्तुलन है। ऐसी अवस्था में, ध्यानावस्थित दशा में, रहकर जीना सम्भव है। चेतना के उस आयाम में, मौन में रहते हुए, जीना सम्भव है। यह निवेदन है घ्राप सत्रके पास! जिस प्रकार शारीरिक आवेगों में चौबीस घण्टे फंसे रहना, उलझे रहना अनिवार्य नहीं है, उसी प्रकार मन के संकल्प-विकल्पों में फंसे रहना, दामव उलझाए रखना भी अनिवार्य नहीं है। संकल्प-विकल्प से परे एक अवस्था है, जिसमें रहकर जीना अनिवार्य है। वहाँ तन का और मन का करण के नाते, साधन के नाते उपयोग किया जा सकता है। वे यन्त्र हैं, उनका उपयोग हो सकता है। जैसे मोटर है, दस-बीस मील दूर कहीं जाना है, मोटर का उपयोग किया, फिर उस पर से उतर गए। घ्राप यह नहीं कहते हैं कि इतनी सुन्दर मोटर मैंने २५,००० रुपये खर्च करके खरीदी है, चौबीस घण्टे इसी में बैठा रहूँगा। वह तो वाहन है। उसी प्रकार मन भी घ्रापको वहन करने का एक साधन है। शब्द, वाणी, संकल्प-विकल्प आदि की जरूरत है, उनकी जानकारी प्राप्त करनी है, तो मन का उपयोग करना ही पड़ेगा। लेकिन जब मौन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तो मन के सम्यक् उपयोग की शक्ति आ जाती है। सन्तुलित रहकर मन का उपयोग करने की शक्ति आती है। इसी

ध्यानावस्थित दशा का जीवन में सबसे बड़ा महत्त्व है ।

यह दशा बाहर की चुनौती को, आह्वान को, यथार्थ रूप में देख सकती है । भीतर उठने वाली प्रतिक्रिया को यथार्थ रूप में देख सकती है । आघात और प्रत्याघातों को जिसने यथार्थता से देखा, उसका प्रतिसाद मौन में से उठता है । आज हमारे पास क्रिया और प्रतिक्रिया, आघात और प्रत्याघात के द्वन्द्वों के सिवा और कुछ है ही नहीं । जिस सतह पर आघात होता है बाहर से, उसी सतह पर, उसी घरातल पर, भीतर से प्रत्याघात उठता है । इस प्रतिक्रिया को अपनी मानकर हम उसमें तदारम हो जाते हैं । किसीने कोई शब्द कहा । उस शब्द का अर्थ शब्दकोश में लिखा हुआ है । वह सिखाया गया है हमें । हमने मुना है और उसीके अनुसार बरतते हुए माता, पिता, शिक्षक, समाज को देखा है । हम समझते हैं कि इस शब्द के उच्चारण से अपमान होता है । उस शब्द के उच्चारण से सम्मान होता है । अपमान होने पर क्रोध घाता है । यह हमने स्वभाविक समझ लिया है । स्वयं को उसके साथ तदारम कर लेते हैं । यह नहीं समझते कि मन का स्वभाव है ऐसी प्रतिक्रिया करना । मेरा मन और तेरा मन, यह कहाँ से आया ? एक ही वैश्विक मन है । निखिल मानव-जाति ने इसे आयत्त किया है । वही आपके व हमारे साथ है । अपने स्वभाव के अनुसार वह प्रतिक्रिया करता है, उसमें 'मेरा-तेरा-पन' कैसे आया ?

हम चिपके हुए हैं प्रतिक्रियाओं से । इससे अलग कोई दूसरा बन्धन नहीं है । जीवन में दूसरी कोई गुलामी नहीं है । प्रतिक्रियाओं का ताना-बाना जो दिन-भर हम बुनते रहते हैं, वही बन्धन का स्रोत है । यदि मालूम हो जाए कि क्रोध का उठना, हमारे साथ बंधे हुए मन की ही एक तरंग पर है, तो हमारा सन्तुलन क्यों बिगड़े ? किन्तु वह समझा नहीं है, इसलिए क्रोध उठा । तो या तो हमने उसको स्वीकार किया, और उसके वश होकर प्रतिक्रिया की, या उसका निषेध करके उसको दबाना, चाहा । कुछ न कुछ हम उसके साथ करना चाहते हैं—उसे दबाना, छिपाना या उसका गला घोट देना चाहते हैं । या फिर उसके वशवर्ती होकर, गुलाम बनकर, वह जो भी कहे वैसा उसका हुकम बजा लाते हैं ।

दो ही पर्याय हम जानते हैं। प्राज तीसरा पर्याय सुभाषा जाता है कि क्रोध को देखो। प्रतिक्रिया को देखो। किसीने प्रशंसा की तो गुदगुदी हुई। देखो उस प्रशंसा को, उससे उठने वाली गुदगुदी को भी। सम्मान में उठने वाली अहंता की गुदगुदी को, अपमान में उठने वाले क्षोभ को जो देखेगा वह जानेगा कि क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि अनेक नामों से जिनको हम सम्बोधित करते हैं वे अनेक स्वतन्त्र विकार या प्रतिक्रियाएं नहीं हैं। एक ही अहंता की चेष्टाएं हैं। जब अहंता को लगता है कि सुरक्षा को प्रांच लग रही है तब भय होता है। सुरक्षा को कोई तोड़-फोड़ रहा है, उसपर आक्रमण कर रहा है, ऐसा लगे तो क्रोध आता है—इत्यादि।

### अपनी पहचान

हमें अपने-आपको पहचानने का अभ्यास नहीं है। दूसरे की आंखों में भाँककर देखते हैं कि इसके चित्त में मेरे लिए प्रतिष्ठा है या नहीं? यह मुझे किस दृष्टि से देखता है? मेरे पड़ोसी, रिश्तेदार, किस तरह से मुझे देखते हैं? उनकी आंखों में पैसे की प्रतिष्ठा है। मैं पंसा कमाऊंगा। उनकी आंखों में सत्ता की प्रतिष्ठा है, मैं सत्ता कमाऊंगा। क्योंकि मुझे उनसे मान्यता चाहिए। प्रतिष्ठा व सम्मान चाहिए। अपने-आपसे परिचय नहीं है। अपने-आपको क्या चाहिए, यह देखकर, उस प्रकार जीने का साहस नहीं है, क्योंकि दूसरे की आंखों में हम अपने-आपको तोलते रहते हैं। और जो हमेशा दूसरे के साथ तुलना करके अपने-आपको देखता है वह स्वर्घा और संघर्ष से कभी बच नहीं सकता।

तुलना एक सामाजिक मूल्य बन गया है। अर्थशास्त्र में भी स्वर्घा को मूल्य माना गया है। जिस दिन यह ध्यान में आया कि ये अहंता की चेष्टाएं हैं, उस दिन समाज के मूल्यों का यह सारा कलेवर बह जाएगा, जैसे ताश का बंगला हवा के भोंके से गिर जाता है। तब संसार को छोड़ना नहीं पड़ता। इन मूल्यों का कलेवर बह जाने के बाद संसार में रहना या बाहर रहना एक ही चीज होता है। इसलिए कल शाम कहा गया था कि छोड़ना कुछ नहीं है। क्योंकि छोड़ना भी पकड़ने की ही प्रतिक्रिया है। छोड़ने वाला कहीं न कहीं पकड़ लेता है, तब छोड़ता है।

छोड़ना और पकड़ना हमेशा साथ चलते हैं। पकड़ने की छाया में छोड़ना पड़ता है और छोड़ने की छाया में पकड़ना पड़ता है।

### घात्म-निर्भरता

मेरे एक परम आप्त हैं कृष्णमूर्तिजी। चालीस साल हो गए, वे कहते आ रहे हैं कि "बाबा, सत्य की खोज व उपलब्धि घात्म-निर्भर होकर ही हो सकती है, दूसरा रास्ता नहीं है। प्रामाण्य मत खोजो। तुम अनुकरण करके कहीं पहुँच नहीं पाओगे। मृत्यु है अनुकरण। अनुसरण में प्रामाण्य नहीं।" तो लोग उन्हीं (कृष्णमूर्तिजी) को गुरु मान लेते हैं मन में। बाहर से तो कह नहीं सकते, क्योंकि वे तो इसे सहन नहीं करेंगे। लेकिन अपने मन से सब तरह की प्रामाण्य-घारणा हटाकर, सब तरहके सम्प्रदायों को छोड़कर, कृष्णमूर्ति के व्यक्तित्व को ही लोग गुरु मान लेते हैं, कि "बलो, सबको छोड़कर तुम्हें ही पकड़ लेते हैं। तू अच्छा मिला। सब परिभाषा छोड़ देंगे तो तेरे शब्दों को पकड़ लेंगे। और अप्रामाण्यवाद का ही एक सम्प्रदाय बना लेंगे।" यह हर एक के साथ किया गया। बुढ़ के साथ हुमा। निषेध और खण्डन की भाषा बोलने वालों के साथ भी हुमा। कृष्णजी का और मेरा निकट का सम्बन्ध है, इसलिए नाम लिया।

यही बतलाना चाहती थी कि छोड़ते तब हैं जब कहीं पकड़ने की सुविधा हो। एक हाथ से छोड़ते हैं, दूसरे हाथ से पकड़ते हैं। इसलिए छोड़ने का कर्म उतना ही बन्धनकारक है जितना कि पकड़ना है। निवृत्ति उतना ही बन्धन है जितना की प्रवृत्ति।

यह सब मन की भूमिका पर होता है। जब मन के मौन में सन्तुलन की शक्ति, स्वस्थता की शक्ति, अपने-आप जन्म लेती है, तब आघातों और प्रत्याघातों को देखने की एक नई दृष्टि खुलती है, जिसको आप शायद तटस्थता कहेंगे। इस देश में शब्द बोलना भी मुश्किल है। हर शब्द के अनन्त सहचारी भाव हैं। देश जितना पुराना है, परम्परा जितनी सनातन है, उतना ही शब्द का उच्चारण मुश्किल है। अच्छा ही होता यदि आप मुझसे कहते कि मौन में बैठो, बोलो नहीं। मौन में ही आपका और मेरा संवाद हो जाए तो सबसे सुरक्षित है। जबान

खोली कि मैं खतरे में घ्रा गई। कहां से मैं शब्द लाऊं ? कितना निर्दोष कण शब्दों को, कि उनके पीछे कोई परम्परागत भाव न हो ? मैं आशा करती हूँ कि आप भावों को पकड़ेंगे, दंगित को पकड़ेंगे, जिसका निर्देश करना चाहती हूँ।

### दृष्टि का आलोक

आघात और प्रत्याघात को समान घरातल पर उठने वाली विक्रिया को देखने वाली दृष्टि, इन आघात-प्रत्याघातों के उठने से पहले ही उपस्थित है। जैसे विमान है, घरती से उठकर आसमान में जाता है। वैसे ही चित्त का घरती से उठना पहले ही हो गया हो तो वह आघात और प्रत्याघात दोनों को एक साथ देख लेता है। आज हम एक साथ नहीं देखते। क्योंकि हमें ध्यान का पता नहीं है। मोन की अवस्था में हम जीए नहीं हैं। मोन की अवस्था में अखण्ड जीने वाला व्यक्ति निरन्तर होने वाले आघात-प्रत्याघातों को नई दृष्टि के आलोक में देखता है। इसलिए आघात से क्षुब्ध नहीं होता और प्रत्याघात का गुलाम नहीं बनता। देखता दोनों को है। दोनों से उठने वाले संवेदनों को भी देखता है। उसका फिर आघात और प्रत्याघात के अवलोकन में से जो प्रति-साद उठता है, वह क्रिया-प्रतिक्रिया की भूमिका पर नहीं उठता। आसक्ति और अनासक्ति की भूमिका पर नहीं, तटस्थता और साक्षित्व की भूमिका पर भी नहीं। एक नया ही आलोक है। तटस्थता और साक्षित्व भी एक भाव है, जिसे वेदान्ती लोग धारण करते हैं। जो भाव धारण करना पड़ता है वह बन्धन बन जाता है। देहभाव छूटा और ब्रह्मभाव को पकड़ा। यहां देहभाव का अध्यास है, यहां ब्रह्मभाव का अध्यास है। अध्यास को विषय पर बदल देने से मुक्ति नहीं है। इसलिए कह रहे हैं कि तटस्थता या साक्षीभाव या मध्यस्थ भाव की बात यहां नहीं हो रही है, यहां आसक्ति-अनासक्ति की भी बात नहीं। यहां उपेक्षा की भी बात नहीं है। यहां है उदासीनता की बात। उत्-आसीन—जीने का आसन या अधिष्ठान ही ऊपर उठ गया है, यही अर्थ है उदासीनता का। इस उदासीन शब्द का ऐसा दुरुपयोग हुआ है कि कुचला गया है शब्द।

उसको उपेक्षा के अर्थ में मत समझिएगा। उदासीन शब्द का बहुत सुन्दर अर्थ है—द्वंद्व के स्तर से चेतना का अघिष्ठान ऊपर उठ गया है।

ध्यान एक अवस्था है। चेतना का एक आयात है, जिसमें स्थिर रहकर व्यवहार होता है। उस व्यवहार में होने वाले कर्म खण्डित कर्म नहीं हैं। शरीर एक तरफ खींच रहा है, मन दूसरी तरफ घसीट रहा है, और बुद्धि बिबेक का चाबुक लगा-लगाकर तन और मन की उबान बन्द करके तीसरा कुछ आपसे करा रही है। इस प्रकार के तनाव और संघर्षों से उपजे हुए दुर्गन्ध-युक्त कर्म फिर नहीं होते।

आप देखिएगा कि आपके कर्मों में दुर्गन्ध है कि सुगन्ध? अहंता की दुर्गन्ध से सारा जीवन भरा हुआ है। इससे मुक्त रहकर मौन में स्थित, प्रतिष्ठित होने वाला व्यक्ति तनाव-रहित, संघर्षातीत होकर सहजता से कर्म करता है। उसे रसोई बनानी पड़े। दफ्तर में जाकर काम करना पड़े। चाहे रास्ता साफ करना पड़े। कुछ भी काम हो सकता है। यह योड़े ही है कि ऐसे व्यक्ति संसार में जीएंगे नहीं। उनके जीवन में नया प्रभात है, नया आलोक है। जो संसार आपको दिखाता है, वह उसको नहीं दिखेगा। समाज के जिस मूल्यांकन के आप शिकार हैं, वह व्यक्ति उसका शिकार नहीं होगा। इसलिए नया आलोक है, नया दर्शन है, नया प्रतिसाद है। जहां था, वहीं है। घर छोड़ेगा, गांव छोड़ेगा, यह भी उरूरी नहीं। बाहर भी निकल पड़ा तो उसमें इसके लिए कोई बहादुरी या पुरुषार्थ का भाव नहीं रहेगा। जो संन्यास करना पड़ता है वह कोड़ी-मौन है। संन्यास हो जाना ही सच्चा संन्यास है।

### ध्यान कर्म का विषय नहीं

ध्यान कर्म का विषय नहीं। वह समग्रता की अवस्था है। उसमें एक अत्यन्त स्वस्थ, सुभग, सन्तुलित व्यवहार की सम्भावना जीवन में जागरित होती है। और फिर वाणी भी मौन की छाया बनती है। शब्दों में से मौन का रस छलकने लगता है। भावों, विकारों, विचारों की दुर्गन्ध नहीं रहती। जब बोलता है, जितना बोलता है, यथार्थता का निवेदन करने के लिए बोलता है। अपनी बात का दावा करने, किसीको

मनाने, रजामन्द करने, किसीका मत-परिवर्तन करने के लिए, या किसीका प्रचार या प्रसार करने के लिए वह वाणी का उपयोग नहीं करता। उसका बोलना अनुभूति का सहज निवेदन है। अधिक से अधिक कहें तो बांट लेना है। एक-दूसरे के साथ बांट लेने में आनन्द बढ़ता है। "सख्यम् प्रात्मनिवेदनम्।" सख्य के लिए, स्नेह के कारण, यह आत्म-निवेदन है। उस व्यक्ति से फिर अतिशयोक्ति, अव्याप्ति, असत्य, मिथ्या प्रलाप, परनिन्दा नहीं होंगे, जिसमें कि आप अपनी शक्ति व्यर्थ खर्च करते हैं। पता भी नहीं आपको, कि वाणी का कितना दुरुपयोग करते हैं और प्रत्येक शब्द के साथ अपने शरीर के अग्नि-तत्त्व को खर्च करते हैं। फिर दिन के अस्त में, सन्ध्या में, शरीर व मन से थके-मांड़े पड़े रहते हैं, वाणी भी जीर्ण-शीर्ण हो रहती है। रात को सपने देखते हैं अतृप्त, अघूरी वासनाओं के। इसीसे सुवह भी ताजगी नहीं। विस्तर से अपने-आपको घसीटते हुए निकालते हैं और जोत देते हैं दिन-भर के व्यवहार में। जैसे कोई बलगाड़ी के बल को घसीटकर जोत दे। प्रभात का आनन्द नहीं, रात्रि का विश्राम नहीं। ऐसी हालत में आज जीवन जी रहे हैं। इस जीना तो क्या कहें ? तन-मन को ढाँए जा रहे हैं। इसको जीवन कहना आन्ति है।

आज आपको सूचित कर देना चाहती थी कि ध्यान शब्द का जब भी प्रयोग करूँ तो उसमें क्या अर्थ अभिप्रेत है। समाधि उसके बाद है। समाधि शब्द का भी बड़ा दुरुपयोग हुआ है। ध्यानावस्था जब इन्द्रियों के व्यवहार तक अवतरित हो जाती है, तो वह समाधि है। ध्यान की अवस्था चेतना में आई, चेतना को साक्षात्कार हुआ। उसके बाद बुद्धि में, वाणी में तथा इन्द्रियगत व्यवहार में भी जब उस ध्यानावस्था के उन्मेष खिलने लगते हैं, या वह ऐन्द्रिय व्यवहार तक अवतरित होने लगती है, तब कहना चाहिए कि यह व्यक्ति समाधि में जाता है।

सबीज और निर्बीज समाधि में प्रवेश करना और फिर उससे उत्थान—इस भाषा से तो एक कर्म ही व्यक्त होता है। समाधि में जाना और बाहर आना—इससे नितान्त भिन्न अर्थ में यहां समाधि शब्द का प्रयोग हो रहा है। वह जीवन-व्यापी, जीवन में अंतर्प्रोत ऐसी



समृद्धि है जो ऐन्द्रिय व्यवहार में भी सहज अभिव्यक्त होती है। चेतना की जो अवस्था इन्द्रियगत व्यवहार तक आकर प्रकट नहीं हो सकती वह आत्म-सम्मोहन मात्र है। यानी बुद्धि में समझ है, पर वाणी में उतरती नहीं, वाणी उसके विपरीत बोलती रहती है। बुद्धि में समझ है और पाहार, विहार, निद्रा में उसका प्रकटीकरण नहीं है; उठने-बैठने, बोलने में उसका सौरभ नहीं है, उसकी सुषमा नहीं, उसका आलोक नहीं है। तो फिर यह आत्म-सम्मोहन ही तो है। समाधि है ध्यान की अवस्था का जीवन में श्रोत-प्रोत हो जाना। इन्द्रियगत व्यवहार तक ध्यानावस्था के अवतरित होने को ही हम समाधि कहते हैं।

## द्वितीय प्रश्नोत्तरी

२८-२-७०

### जीवन का वैविध्य

प्रश्न सुनकर यह पता ही नहीं चलता है कि कल से किस विषय पर मैं बोली हूँ। राजनीति पर बोली हूँ कि अर्थनीति पर बोली हूँ। ध्यान पर बोली हूँ कि आहार पर बोली हूँ। कुछ पता ही नहीं चलता है। सुविधा प्राप्त लोगों के लिए एक है कि मैं प्रवचन तैयार करके नहीं बोलती हूँ। तो क्या बोली हूँ इसका स्मरण मुझे है नहीं। इसलिए प्रश्नकर्ता यदि कहेगा कि यह कहा गया है तो उसको मान लूंगी। यह श्रोताओं के लिए सुविधा भी है। उससे इन्कार न करूंगी।

एक घण्टे में बीस प्रश्न लेने हों तो एक प्रश्न को तीन मिनट, और क्षेत्र इतने विविध लिए हैं।

१. अब गांधीजी के बारे में भला क्यों पूछा जाए ! जिस विषय पर वक्ता बोलता है उसीपर पूछना चाहिए। तीन दिन था शिविर। कल सुबह शिविर समाप्त होने वाला है। जिस विषय पर वक्ता बोलता है उस विषय के बारे में कुछ अस्पष्टता रही हो, कुछ मुद्दे छूट गए हों या कुछ संदेह हो, जो कहा गया उसकी यथार्थता के बारे में संदिग्धता हो तो पूछना चाहिए। गांधीजी की व्यावहारिकता, आध्यात्मिकता के बारे में मेरी क्या राय है ? दूसरे व्यक्तियों के जीवन के बारे में राय रखने की फुरसत मेरे पास नहीं है। मैं जीने में मशगूल हूँ। चाहे गांधीजी हों, चाहे विनोबाजी हों, चाहे रामकृष्ण परमहंस हों कि रामण महर्षि हों, राय क्यों रखूँ ? राय रखने के लिए जानकारी का

संग्रह करूं। जानकारी की प्रामाणिकता के लिए संतुलनात्मक अध्ययन करूं। उसमें से निष्कर्ष निकालूं। इतना जीवन का अपव्यय क्यों करूं ?

२. आहार के बारे में पूछा। क्या आहार लें, कौन-सा लें ? अब ये शाकाहार, मांसाहार कहां से अभेद के साथ जुड़ गया, कुछ पता नहीं चला। मैंने अभेद की बात नहीं कही थी। जीवन की एकता और अविभाज्यता का परिचय होना चाहिए, यह कहा था। जीवन की एकता और अविभाज्यता को समझना और उस एकता और अविभाज्यता के प्रत्यय में जीना अध्यात्म है, यह कहा था। कहीं कोई दृष्टान्त या उपमा ली हो तो दृष्टान्त एकदेशी होते हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए। अब कोई पूछेगा कि कौन-सा आहार हम लें ? कितना लें ? तो भला यह बात भी मैं कहूंगी ? मैं कोई डाक्टर हूं, वैद्य हूं ? व्यक्ति को अपने शरीर के अनुकूल आहार खोज लेना चाहिए। कफप्रधान प्रकृति है, पित्तप्रधान है, वातप्रधान है। किस ऋतु में, कौन-सा आहार हो ? कितना लेना चाहिए ? इतना लेना चाहिए कि पेट में बोझ न हो। खाया हुआ है इसका मान हो, उससे जड़ता हो, आलस्य हो, तो उसका तनाव मस्तिष्क पर पड़चता है। 'युक्ताहारविहारस्य योगो भवति दुःखहा।' युक्त होना चाहिए। अब किस आहार की युक्तता किसके लिए किस प्रमाण में होगी, यह तो उस व्यक्ति को बूझना चाहिए। किसस्थान में रहता है ? वहां की आबोहवा क्या है ? उपजीविका के लिए कौन-सा व्यवसाय करता है ? उसमें कितना समय उसको बँठना पड़ता है या चलना पड़ता है ? आनुवंशिक कौन-से गुण-दोष उसमें आए हैं ? आहार या विहार के लिए सावंधीम, सर्वसामान्य विधान करना, उनके सिद्धान्त बनाना और उनपर नैतिक मूल्य लादना यह धर्म है। यह प्रत्येक व्यक्ति की स्वाधीनता का विषय है।

३. हमारी दिनचर्या कैसी रहे ? यह पूछा गया है। कैसे बताएं दिनचर्या क्या हो ? अपना व्यक्ति की दिनचर्या कैसे बताऊं ? आलस्य में, तन्द्रा में, जड़ता में समय न जाए। जितना समय आलस्य में, तन्द्रा में, जड़ता में जाता है, उतना मनुष्य मृत है। जहाँ व्यक्ति का

प्रत्यक्ष दायित्व नहीं है, जीवन का सम्बन्ध नहीं है, वहाँ न्यायाधीश की सूत्रिका लेकर दूसरों के जीवन के न्याय करते हुए बैठना, आलोचना-टीका में लग जाना, यह जो अव्यापारेषु व्यापार है, उसमें समय खोना यानी अपने जीवन की सत्यता, तथ्य से दूर भागना है। यह न करें। जो बीता हुआ जीवन है, जो बीना हुआ कल है, उसकी स्मृतियों के संभोग में न लगे। मृत को फिर से जिलाने की, स्मृतियों के शवों को ले-लेकर ढोने की और उनको कुरेदकर उसमें रस लेने की चेष्टा न करें। भविष्य के सपने देखना और भूतकाल की स्मृतियों के साथ खेलना, इसमें वर्तमान का संपर्क, सम्बन्ध छूट जाता है। जीवन है तो वर्तमान में है। इस क्षण में है। अब इस क्षण में अनंत है कहीं तो शाश्वत और अनन्त को धारणाएं बन जाएंगी। जीवन है तो वर्तमान में है। जीने का अबसर है तो आज है, अब ही है, इस क्षण में है। इस क्षण से सम्बन्ध छूटे, किसी कारण से, किसी भी प्रयोजन से, तो जीवन से वंचित रह जाएंगे। जो क्षण सामने है, उसमें समग्रता से जीएं। जो कर्म सामने आया है, उसको अपनी पूर्णता, समग्रता से करें। उसमें यह न रखें कि प्राये मन से किया, व्यग्रता से किया। व्यग्रता से किया हुआ कर्म खंडित कर्म है, वह अभिधाप बन जाता है। तो अपनी समग्रता को उड़ेलकर उस क्षण में जीएं। यदि वह (क्षण) दुःख के घ्रांसू बहाता हो, बहें घ्रांसू। लेकिन उन घ्रांसुओं में दीनता और हीनता न रहे। उसमें भी ऐश्वर्य हो सकता है। मान हो, प्रपमान हो, हर्ष हो, शोक हो, अपने मन के लिए प्रिय हो, अप्रिय हो। जो भी चुनौती, जो भी आह्वान, वर्तमान क्षण में आता है, उसको पूरी तरह से जी जाएं। जो वर्तमान क्षण में पूरी तरह से जी लेता है, उन्मुक्तता से जी लेता है, उस क्षण के बाद, इस पिछले क्षण की अनुभूतियों से वह अगले क्षण को दूषित नहीं बनाता। पिछले क्षणों की अनुभूतियां लेकर अगले क्षण में नहीं जाता है। अगले क्षण की मुट्ठी में अनंत का नया संदेश भरा हुआ है, इसको देखने के लिए वह बालक जैसा निर्वेष, जिज्ञासा से भरा हुआ फिर उस क्षण को जी लेता है। तो भाई, दिनचर्या कंसी हो यह तो मुझे मालूम नहीं लेकिन क्षण-क्षण में कैसे जीया जाए इसका कुछ संकेत हो

सकता है ।

४. पूछा गया कि मन को निविचार कैसे किया जाए ? अब 'मन को निविचार करना' यह एक समस्या खड़ी करके उसके उपाय ढूँढ़ेंगे, उसके तन्त्र ढूँढ़ेंगे । मन का स्वभाव है संकल्प और विकल्प उपस्थित करना । तरंगें उसमें निमित्त होती रहती हैं । अब उसको और एक काम दीजिएगा कि संकल्प-विकल्प को रोको, निविचार, निविकार बनाओ । इस प्रकार का यदि एक नया परिश्रम उसके ऊपर लादा जाए तो उससे क्या होगा ? मन टूट जाएगा । जो अहंता संकल्प-विकल्प करने में लगी है, वह अहंता जब मन को निविचार और निविकार बनाने का दायित्व उठाकर उसके पीछे परिश्रम करने लगेगी, याने यह तो बीमारी से दवा कहीं ज्यादा क्षतरनाक है, तो मन को निविचार या निविकार बनाया नहीं जा सकता मित्रो !

कृत्रिमता से निविचार की अवस्था कुछ समय के लिए पैदा की जा सकती है लेकिन उसमें मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं है । रासायनिक या दूसरी कोई प्रक्रिया करके कुछ समय के लिए वह अवस्था पैदा करना यह समग्रता का विकास नहीं । समग्रता के विकास में अवस्था सहज हो जाती है । वह एक चेतना का नया आयाम बन जाता है । फिर उसकी रखवाली नहीं करनी पड़ती । तो निविचार करने की भाषा में यह लागू नहीं होती । मन की क्रियाओं की मर्यादाएं और उसके अंगीभूत दोष व त्रुटियां जब ध्यान में आ जाती हैं तो निविचार अवस्था स्वयंभेव जागरित हो जाती है । इतना ही मालूम होना चाहिए कि सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि विचार के द्वारा नहीं हो सकती, भावना के द्वारा नहीं हो सकती, अनुभूति उसका माध्यम नहीं । ज्ञान और अनुभूति, ये पदार्थ का प्रत्यक्ष (परोक्ष) ज्ञान कराते हैं । लेकिन ज्ञान और अनुभूति प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित नहीं करा सकते । इस तथ्य को समझने की जरूरत है । इस तथ्य को जब समझेंगे तो उसमें से मन की निविचारता प्रतिष्ठित होगी । उसको अपनी इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति, निर्णय-शक्ति, इन सबका उपयोग करके जबरदस्ती लगाना नहीं पड़ता ।

## ध्यान और मौन

५. पूछा है ध्यान में और मौन में क्या फर्क है ? मौन द्वार है और ध्यान नया आयाग है चेतना का । मन के समस्त व्यापारों को जब हम शान्त होने देते हैं तो उस शान्ति में से ध्यानावस्था के आयाग में प्रवेश घटित होता है । हमारे मन में जो दृढ़-मूल भ्रम है कि ग्रध्यात्म के नाम पर मन को कुछ प्राप्त करना है, सत्य को प्राप्त करना है, उसे हट जाना चाहिए । सत्य में कुछ प्राप्तव्य नहीं है । सत्य कमाना नहीं है । हमारे संसार में न कमाने-गंवाने की, संग्रह की, प्रभुत्व की भाषा है, उसे ग्रध्यात्म की तरफ भी हम ले जाते हैं । इसलिए बैठते हैं तो कहते हैं— 'मैं मुक्त होऊंगा' । 'मैं मोक्ष कमाऊंगा' । 'मैं निर्वाण प्राप्त करूंगा' । मैं रहूंगा और सत्य भी रहेगा । यह भ्रम निकल जाना चाहिए ।

मन के समस्त व्यापार शान्त होने पर पता चलेगा कि सत्य के क्षेत्र में जीवन की चरम वयार्थता व तथ्य को देखने के लिए मन नाम का करण उपयोगी नहीं है । आप मोटर में गए हैं तो यह नहीं कहेंगे कि मोटर तालाब में भी ले जाता हूँ । इतनी सुन्दर मोटर है, यहाँ तक लाया हूँ तो प्रागे क्यों नहीं ? अरे भाई, मोटर लेकर 'विहार भौल' में उतरोगे तो डूब जाओगे । वह चल नहीं सकती है वहाँ । उसी प्रकार मन वहाँ चल नहीं सकता है । संकल्प-विकल्प के चरणों से चलने का धरातल पीछे छूट जाता है । यह पता चलने पर, मन के विश्राम में बैठने हैं तो मौन जी उठता है । इस निविचार अवस्था को मौन कह लीजिए ।

इसमें पहले शून्य का आभास होगा । अंधकार का आभास होगा । क्योंकि अहंता को कहीं जाने के लिए दिशा नहीं है । गंतव्य स्थान नहीं है । प्राप्तव्य नहीं है । तलहीन कोई एक खाई है । अहंता का दम घुटने लगेगा । यह सब मौन में घटित होगा । उससे यदि भागेंगे नहीं, उससे यदि डरेंगे नहीं, तो फिर जैसे-जैसे स्थिरता आने लगेगी, जैसे-जैसे अनुभव होगा चेतना के एक नये आयाग का । उस आयाग में अनुभव होगा कि केवल मन ही देखता है ऐसा नहीं । देखने का और भी कोई करण है । मन की मदद के बिना देखने के लिए और भी कोई सूक्ष्म करण

है। जैसे प्रेम देखता है न ! आपने अनुभव किया होगा कि प्रेम में देखने की बेचक प्रज्ञा है। बड़ी भेदक शक्ति है। जिसके प्रति प्रेम हो, उसके अंतस् में क्या चल रहा है उसकी आवश्यकता क्या है, उसका हित कहाँ है, यह अपने-आप मालूम हो जाता है। यदि प्रेम हो तो हो, मोह हो तो नहीं। आसक्ति हो तो नहीं। यदि प्रभु-कृपा से चेतना को पल-भर के लिए प्रेम का स्पर्श हो गया हो तो यह देखने में घ्राणा कि प्रेम में ऐसी एक प्रज्ञा जाग उठती है कि वह देख सकती है, बिना शब्द के, बिना इशारे के, बिना संकेत के व दृश्यों के। एक प्रत्यक्ष मिलन, एक सम्पर्क वहाँ जागरित हो जाता है। तो जहाँ अहंता सो जाती है, वहाँ मन के व्यापार शान्त हो जाते हैं, वहाँ भी देखने वाला कोई है। उसको नाम नहीं दूँगी।

### अनुभूति और प्रत्यय

अब आप कहेंगे आत्मा है। परमात्मा है। प्रभु है। ये सब नाम उपयोग में लाए गए हैं और उन सब शब्दों के पीछे किसी न किसीकी अनुभूतियाँ होंगी। उससे मुझे भगड़ा नहीं। केवल हमारे और आपके लिए वे सिर्फ शब्द हैं, अनुभूति नहीं। प्रत्यय नहीं। उधार लिए हुए, बुद्धि के संग्रह किए हुए शब्द हैं, जिनमें प्राण नहीं, मृत कलेवर हैं। जिसके अर्थ के रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ। यह तो केवल कलेवर ही होता है न ! एक-एक शब्द के रहस्य का जब उद्घाटन होता है तब प्रत्यय जाग उठता है। तब प्रत्यय की उपलब्धि होती है, जीवन समृद्ध होता है। लेकिन हमारे पास जो शब्द हैं— वैश्विक चेतना, आत्मा, सबल आत्मा, पता नहीं क्या-क्या दुनिया-भर के शब्द हैं। मैं उन शब्दों को लेना नहीं चाहती हूँ। मैं इतना ही कहती हूँ कि जिसका मन और बुद्धि से संबंध नहीं, लेकिन जिसमें तथ्य के साक्षात्कार की अनूठी शक्ति है, ऐसे शक्ति के उन्मेष फिर वहाँ खिल उठते हैं।

मौन द्वार है। इस द्वार में से होकर गुजरना होता है। और इस द्वार में से गुजरने के बाद ध्यान नामक अवस्था चेतना के नये आयाम के रूप में जागरित होती है। पता नहीं, आपने करके देखा है कभी पांच, छः महोना, आठ महोना भी। रोज कभी आधा घण्टा, एक घण्टा, बैठकर देखा हो,

मन को मीन होने का मौका दिया हो, शरीर को विश्राम पाने का अवसर दिया हो। आपने नहीं देखा कि विचारों में, प्रतिक्रियाओं में, भावनाओं में खर्च होने वाली सारी की सारी शक्ति अपने-आपको समेटकर आपके भीतर एक जगह आ जाती है। नई स्फूर्ति, प्रज्ञा का नया आलोक भीतर भर जाता है। यहाँ मैं कोई रहस्यवाद नहीं रख रही हूँ। यह प्रयोग करके देखने की चीज है हरेक के लिए कि मनोव्यापार को शान्त होने देते हैं तो घटित क्या होता है। क्योंकि मीन में विलक्षण विस्फोटक शक्ति है। वह अभावात्मक द्रव्य नहीं है। वह तो सृजन की असीम शक्ति रखने वाला भावरूप और विघाथक तत्त्व है।

### ध्यान का समय

६. ध्यान के लिए हम किस समय बैठें ? हमने कहा कि ध्यान चेतना की एक अवस्था है, करने का कर्म तो है नहीं। लेकिन ध्यान में प्रवेश हो सके इसलिए तन और मन के व्यापारों से मुक्त होकर विश्राम में बैठने का भी अभ्यास करना पड़ता है। बचपन से सिखाया नहीं हमको। मालूम नहीं है। तन से परिचय नहीं है, मन से परिचय नहीं है। तो शुरू-शुरू में बैठना भी पड़ता है। किस समय बैठे अपने-प्रागसे परिचय पाने के लिए ? अब कैसे समय बताएं ? आप बम्बई वाले लोग रात को ११-१२ बजे से पहले सो ही नहीं सकते होंगे। कहीं-कहीं नौकरो पर जाना पड़ता है, वस में, ट्राम में और रैज में घाना-जाना पड़ता है। घर कब पहुंचते होंगे, मालूम नहीं।

निशा अभी समाप्त नहीं हुई है, और उपःकाल भी नहीं हुआ है। अपने रजोगुण की शक्ति लेकर संसार जाग नहीं उठा है, वासना विकार का जाल सारे आसमन्त में फैला नहीं है, शान्त है वातावरण। ऐसे समय यदि बैठते हैं तो वातावरण की और आसमन्त की मदद होती है। लेकिन जो १२ बजे सोएगा वह ब्राह्म मुहूर्त में उठेगा भी कैसे ? और जबदस्ती उठे भी तो ध्यान के बदले और भी कुछ उसका दूसरा ही नुकसान हो जाएगा। शरीर को निद्रा भी चाहिए न, कम से कम ६ घण्टे। वह बिना लिए कैसे हो सकता है ? निद्रा लेना भी हमें कहां मालूम है ? न



हमारा जागृति से परिचय है, न निद्रा से। निद्रा के नाम पर सपने देखते हैं, या तन्द्रा में पड़े रहते हैं और जागृति के नाम पर इन्द्रियवश क्रियाओं में रत रहते हैं। यह है हमारी जागृति और यह है हमारी निद्रा। हमें मालूम नहीं कि दिवास्वप्न और रात्रिस्वप्न इसमें ही हमारी जिन्दगी बीत जाती है। जब निद्रा पूरी हो और ताज़गी हो तन-मन में, तब बैठ जाए।

७. कितने समय बैठ जाए ? वह आपकी दिनचर्या के ऊपर निर्भर है। शरीर-प्रकृति पर निर्भर है। प्रौर बैठ ही जाए ऐसा कोन कहता है ? किसीको बैठना भी एक समस्या हो जाती है, वह टहले, घूमे, फिरे। यह जरूरी नहीं है कि बेचारा बैठे ही। बैठने के साथ ही ध्यान को कसकर बांध देने की जरूरत नहीं। वह तो अवस्था है, किसीको घूमने में, किसीको बैठने में, किसीको लेटे रहने में, किसीको खड़े रहने में। जैसे जिसको सुविधा हो। जैसी जिसकी रुचि हो। लेकिन व्यक्ति अपने साथ हो, दूसरों के साथ नहीं। एकान्त में हो। नहीं तो घूमने भी जा रहे हों तो दो-चार को इकट्ठा करके ही जा रहे हैं। प्रत्येक की उपस्थिति बोलती है। वाणी बेचारी कितना बोलेगी, क्या बताएगी ? लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर विचार और विकार का बोझ लेकर आता है, उसकी दुर्गन्ध वह अपने साथ लेकर आता है। तो इतना ही कहूंगी कि जिसको मोन नाम के आश्रय में प्रवेश करना सीखना है—वह एकान्त में जाए. रहे, बैठे, घूमे, टहले, जैसी जिसकी मर्जी।

### सहजता का जीवन

८. मवाल तो अनन्त पूछे हैं। किसीने पूछा कि जो सहज में जीवन जीने वाले लोग हैं उनकी समाज के प्रति क्या जिम्मेदारी है ? दायित्व नहीं है उनका ? और सहज में नहीं जीते तब तक क्या संयम का कोई उपयोग नहीं है ? तो सहजता में जीने वाले और दायित्व ! सहजता और दायित्व साथ नहीं जाते। आपको यह खूब समझ लेना चाहिए। यह नहीं है कि जो सहज जीवन को उपलब्ध हुआ है, यानी मन से परे चला गया है, उसके जीवन में कोई हेतु नहीं है। प्रेम करने के लिए उसके

जीवन में कोई हेतु और प्रयोजन नहीं है। दूसरों के साथ सहयोग करने के लिए प्रेम, आत्मीयता, सहयोग उसका शील बन जाता है। सत्य बोलने के लिए उसको प्रयास नहीं करना पड़ता है। उसके द्वारा सत्य में जिया जाता है। ऐसे व्यक्ति के साथ आप दायित्व क्यों जोड़ रहे हैं? जहाँ गैरजिम्मेदार बनने की संभावना है, वहाँ जिम्मेदारी का विधान बनाना पड़ता है। जहाँ असंयम की संभावना है वहाँ संयम सिखाना पड़ता है। आप बात समझ लीजिए। द्रुत के क्षेत्र में ही मन की सतह पर निर्णय करने पड़ते हैं। चुनाव करने पड़ते हैं। व्यक्ति जब तक राग-द्वेषों के अधीन है, इन्द्रियों के, आवेगों के अधीन है, तब तक ही आप दायित्व की बात करें। सहजता में दायित्व नहीं और कर्तव्य भी नहीं। जिसके लिए आपको दायित्व और कर्तव्य सिखाने पड़ते हैं वह वहाँ स्वभाव है, वह वहाँ शील है।

प्रश्न आपने ऐसे गम्भीर उठाए हैं कि एक-एक प्रश्न पर एक-एक प्रवचन दिया जा सकता है। विषय की गंभीरता को देखना चाहिए। 'सहज' शब्द कोई आसान नहीं। मन से परे जो चेतना है वहाँ सन्तुलन और स्वास्थ्य है। यही जीवन का प्रसाद है। इसलिए समाज के प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है। किसीके प्रति दायित्व नहीं है। तो उसका क्या उपयोग है समाज को? कोई उपयोग नहीं। उसको 'कंश' नहीं कर सकते, भुना नहीं सकते। उसका संप्रदाय नहीं बना सकते। उसको कहीं ऊंचे पद पर बैठा करके पूजा नहीं कर सकते हैं। उसको पूजा करके अलग कर दें या लटका दें क्रॉस पर। यह मानव-जाति आज तक करती आई है। उसका उपयोग वही है जो जीवन में परिमल का उपयोग है। वह मानवीय विकास की पराकाष्ठा का परिमल है। पूर्णिमा के चांद की सुपमा का उपयोग क्या है? "समुद्र इव गाम्भीर्ये स्वैर्ये च हिमवानिव" उसका उपयोग क्या है? मानवीय जीवन कितना ऊंचा उठ सकता है, कितना गहरा जा सकता है, वह देखना हो तो ऐसे व्यक्तियों को देख लो। जीवन का विकास किस दिशा में आगे होगा? इसका संकेत उसके जीवन में मिलता है। कल के जीवन की भाँकी आज मिल जाती है। मानव की परिपक्वता क्या होगी, इसके दर्शन वहाँ हो जाते हैं।

## कच्चा आरामो

६. अपरिपक्व मानव जब समाज-सेवा करते हैं तो उसका परिणाम क्या होता है, यह आप इस देश में और दुनिया में देख ही रहे हैं ? आज जो वृष्ण चित्त वाले व्यक्ति समाज-सेवा कर रहे हैं, उसका परिणाम हम इस देश में और दुनिया में नहीं देख रहे हैं ? जिनके चित्त पल-भर के लिए स्वस्थ नहीं हैं, महत्त्वाकांक्षी की व्याधि कैंसर जैसी जिनके अंतरंग को कुरेदती रहती है, ईर्ष्या और द्वेष, सत्ता की लालसा जिनको खाए जा रही है, वे सेवा करेंगे ? सेवा करने वाला कौन होगा यह तो पहले बताइए ? सेवा की आवश्यकता है या नहीं ? भारत की उन्नति हीगी या नहीं ? यह सवाल अलग रखिए, लेकिन करेगा कौन ? सेवा करने के लिए स्वस्थ, संतुलित व्यक्ति चाहिए न ? फिर स्वस्वचित्त, संतुलित व्यक्ति के कर्म स्वयं ही सेवा बन जाते हैं । सेवा उसको करनी नहीं पड़ती । सेवा करने में भी तो ग्रहंकार पुष्ट होता है । याद आया मुझे— शायद रामकृष्ण परमहंस की अन्तिम बीमारी का समय था । शिष्य सब बैठे हुए हैं, बातें चल रही हैं । “जीवे दया वैष्णव परम धर्म” वही परम्परा से कहते हैं कि वैष्णव का धर्म है जीव-दया । रामकृष्ण ने सुना और आंसू भरने लगे । बोले, दया करने वाले तुम कौन होते हो ? ये नारायण हैं यह समझकर पूजा करने वाले तुम हो सकते हो । तुम दया करने वाले हो ? “जीवे दया” ? तो यह जब रामकृष्ण ने कहा कि दया करने वाले तुम कौन हो ? तुमको पूजा का अधिकार है, नर में प्रतिष्ठित नारायण की । तो विवेकानन्द समझ गए और उन्होंने कहा, आज सत्य को पाया । यह डंके की चोट पर दुनियां को सुनाऊंगा कि दया नहीं, सेवा नहीं, पूजा । यह सेवा शब्द पता नहीं कहां से चल पड़ा ! पहले अपनी सेवा व्यक्ति करे ? फिर उसे दूसरो की सेवा नहीं करनी पड़ेगी । उसके जीवन से सेवा भरेगी । जैसे मकरन्द भरता है पुष्पो से, चांदनी भरती है चांद से, वैसे प्रेम भरेगा । और प्रेम में जो जीता चला जाता है उससे जगत् का कल्याण होता है । तो सेवा करने वालों की जमात से परमात्मा भारत को बचाए ।

### अपना परिचय

१०. समग्रता में जीने के लिए हम क्या करें ? ऐसा प्रश्न पूछा गया है । समग्रता में जीने का विषय ही कल से ले रहे हैं । आप बुरा न मानें किन्तु यदि ठीक अवधान दिया जाता तो जो प्रश्न पूछे गए हैं इनमें से आधे भी न पूछे जाते । या तो कहने में खामी रही हो या तो सुनने में खामी रही । आप दोनों मान लें ।

पहली बात तो यह समझनी होगी कि हमें अपना परिचय नहीं है । हम अपने-आपको जानते नहीं हैं । आत्म-परिचय नहीं है । अपनी समग्रता का परिचय नहीं है । प्रारम्भ में इस तथ्य को देखना होगा । हमको मालूम है हम क्या हैं ? "नाहं देहो नेन्द्रियाणां तरंगः" । कंठस्थ है न । "चिदानन्दरूपः शिवोऽहं" । शब्द 'शिवोऽहं' का अर्थ भी कौन जानता है ? शब्द और शब्द-कोशों में दिए हुए उनके अर्थ, इनकी माला गुंथकर चेतना पर अलंकार पहनने से जीवन के अर्थ का आकलन नहीं होता । यह सनातन देश है, इसमें आध्यात्मिक परिभाषा अत्यन्त सुलभ है । शब्दों के व विचारों के अलंकार पहन-पहनकर लोग धूमते हैं । इसलिए विनम्रता अनिवार्य है । विनम्रता के जाग्रत् होने पर अपने बारे में मन में जो धारणा बनी होगी वह चकनाचूर हो जाएगी । विनम्रता के बिना सीखना नहीं आता । विनम्रता के बिना शोधन नहीं होता । इसलिए समग्रता में जीने की इच्छा हो तो विनम्रता चाहिए और जिज्ञासा चाहिए । आध्यात्मिक जीवन की इच्छा रखनेवाले बहुत हैं, लेकिन जिज्ञासा रखनेवाले कम हैं, दुर्लभ हैं । जैसे अपने घर के दीवानखाने को सजाने के लिए उसमें बहुत सारी अच्छी-अच्छी चीजें रखते हैं, वैसे ही हम अच्छे विचारों से बुद्धि को सजाते हैं । हमारी बुद्धि विचारों का और दूसरों की अनुभूतियों का संग्रह मात्र है, संग्रहालय मात्र है । यह तथ्य क्या हमारे ध्यान में आता है ? आज तक की परिभाषा, आज तक के दूसरों के उधार लिए हुए निष्कर्ष, ये सब विनम्रता के कारण अलग रखे जाएंगे । यह नहीं कि वह सब भूठ था । भूठ था, सच था, इस पचड़े में नहीं पड़ना है । लेकिन सत्य की उपलब्धि के लिए, समग्रता की उप-

सन्धि के लिए वह मेरे काम का नहीं। पढ़ेंगे सब अपनी-अपनी जगह। पढ़ेंगे, आपके मुनि पढ़ेंगे, सब कोई होंगे। लेकिन उनकी अनुभूति हमारे किस काम की ?

तो, विनम्रता से संगृहीत ज्ञान को अलग रखने का साहस यदि करें तो पथ प्रशस्त होगा। निर्दोष शून्य में प्रवेश करने का साहस चाहिए। ज्ञान-संग्रह जब हट जाएगा तब चित्त में अवकाश होगा। "ज्ञान गुमाननी णासङ्गी उतरावो शिरेथी आज।" कहा था न ? तो उस शून्य में और निर्दोष अवस्था में यानी जिज्ञासा में प्रवेश करने का साहस चाहिए। आत्म-जिज्ञासा, सत्य-जिज्ञासा कोई खेल नहीं। उसकी अग्नि यदि भीतर प्रदीप्त हो तो सब कुछ भस्म कर सकती है। आज तक के मूल्यों का संग्रह भस्म हो सकता है। जीवन-पद्धतियां भस्म हो सकती हैं। लेकिन हम आत्मा की जिज्ञासा तो करेंगे, खोज करेंगे, पर साथ ही सामाजिक प्रतिष्ठा व सम्मान को भी सुरक्षित रखना चाहेंगे। यह नहीं हो सकता। समाज का भय न हो, सुरक्षा नष्ट होने का भय न हो, सत्य की खोज के लिए, समझता की उपलब्धि के लिए कीमत चुकाने की यदि तैयारी हो, तो मनुष्य फिर उस निर्दोष शून्य में, उस मोन में प्रवेश करता है। यही बात घुमा-फिरा करके कल से कह रही हूँ, जिसके लिए आपकी तैयारी नहीं है।

### मन और बुद्धि अलग नहीं

दूसरा विषय कल से यह रखा जा रहा है कि जिसको प्रायः मन और बुद्धि कहते हैं वे अलग-अलग नहीं हैं। एक ही यंत्र है। मस्तिष्क में कुछ गोलक पड़े हुए हैं। इन सब गोलकों में आपके ज्ञान और अनुभव रसायन के रूप में संगृहीत होता है। ज्ञान इन गोलकों से बाहर खींचा जा सकता है, और दूसरों में प्रविष्ट किया जा सकता है। मतलब यह हुआ कि जिसको आप विचार कहते हैं, भावना कहते हैं, वह आपके अपने नहीं हैं। यह यंत्र प्रादि-मानव से लेकर आज तक भरे हुए संस्कारों का परिणाम है। वह मन किसी भी दिशा में कहीं भी जाए उसकी प्रत्येक क्रिया यांत्रिक है, वह स्वायत्त कर्म नहीं है। इस तथ्य को पहचानना चाहिए।

विचारों का और भावनाओं का घमण्ड है मनुष्य को। उसको वह ऐश्वर्य समझता थाया है, वह घमण्ड दूर होगा।

११. पूछा गया है कि मन यदि शान्त हो तो उसके आचरण के लिए मार्ग-दर्शन कौन करे ? कौन प्रेरणा देगा ? आज आदत है न कि मन ज्ञान-संग्रह करता है। फिर यह सोचना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए, इस प्रकार के विधि और निषेध, इस प्रकार के यम-नियम स्वतन्त्र रूप से बनाए जाते हैं, फिर उनके अनुसार बरता जाता है। हम समझते हैं कि मन से परे जाने के बाद आज का जीवन ही कायम रहेगा, प्रेरणा देने वाली शक्ति प्रेरणा देगी और फिर आचरण होगा। ज्ञान और अनुभूति ही उसकी परिधि है। इसी प्रकार मन से परे भी मार्ग-दर्शन करने वाला कोई होगा और फिर आचरण करने वाला दूसरा कोई होगा, ऐसा मान लिया जाता है। किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। वहाँ संग्रह नहीं है कि किसीसे तुलना करने जाएंगे। मूल्य और मूल्यांकन नहीं हैं, जिनसे नाप-तौल लगाए जाएं। हमें हेतु, प्रयोजन, नाप-तौल, मूल्यांकन इन सबकी आदत हो गई है, इसीलिए पूछते हैं कि चेतना को आचार के लिए मार्ग-दर्शन कौन करेगा ? मन से परे ये भिन्न सत्ताएं रह नहीं जातीं।

आत्मा निरन्तर गतिशील है। संकल्प-विकल्प के आचरण, प्रत्य-वाय, विसर्प जब हट जाते हैं, तब आत्मा की स्वयम्भू गति काम करने लगती है। बिलखी हुई, विभाजित ऊर्जा जब लिमटकर अपने-आपमें इकट्ठी हो जाती है तो नख-शिस्रान्त प्रज्ञा का ही संचार होता है। तब मार्ग-दर्शन और व्यवहार, ऐसा अन्तर नहीं रह जाता है। लेकिन हमने मन को इतना महत्त्व दिया है कि मन शान्त होने के बाद क्या होगा, उसका भय लगता है। शान्त होगा ? वहाँ अहंकार नहीं है ? ज्ञान नहीं है ? अनुभव नहीं है ? कुछ भी नहीं है ? कुछ भी नहीं है तो हम क्या करेंगे ? कुछ भी नहीं है तो हम कहाँ रहेंगे ? मन के समस्त व्यापार शान्त होने के बाद 'आप' कहाँ वहाँ शेष रह जाएंगे कि आप कुछ करेंगे ? वहाँ तो होगा शून्य। मुरली में से जो पवन गया, वह सुर बन के निकला। उसी प्रकार जिसको आप 'शून्य' कहेंगे उसी 'पूर्ण' में से फिर जीवन बोलने

लगेगा। कैसे आपसे कहें? कुछ कहने जाएंगे तो आपको रूपक-सा प्रतीत होगा। काव्य प्रतीत होगा। हमारा अपराध नहीं। जीवन स्वयं कविता है। विधाता का एक छंद है। वहां परिधि भी नहीं है और केन्द्र भी नहीं है। अहंकार का केन्द्र नहीं है। अनुभूति की परिधि नहीं है। कोई सीमाएं नहीं हैं। केन्द्रहीन, परिधिहीन चेतना का अनन्त विस्तार है। यानी आपके अस्थि, मज्जा, ग्रन्थि-रेणु में, रक्त की बूंदों में प्रोत-प्रोत चैतन्य शक्ति ही देखती है। उसकी सहज स्वयम्भू गति है। वही व्यवहार बन जाता है। व्यवहार करना नहीं पड़ता है। लेकिन इतना सब कहने पर भी आपके लिए ये कोरे शब्द ही रह जाएंगे, यह मैं जानती हूं।

### मृत्यु का भय

१२. पूछा गया है कि मृत्यु का भय क्या है? उसको कैसे दूर करें? सोचनेकी बात है कि क्या भय मृत्यु का ही है? फिर तो जन्म का भी भय होना चाहिए। क्योंकि जन्म की छाया में मृत्यु पलती है और मृत्यु की छाया में जन्म पलता है। जन्म और मृत्यु के केन्द्र में से जीवन की सरिता बहती है। अकेले मरण का कौसा भय? जन्म का भी तो भय होना चाहिए। मरण यदि अमंगल है तो फिर जन्म भी उतना ही अमंगल होना चाहिए। जन्म यदि मंगल है तो फिर मृत्यु भी उतना ही मंगल होनी चाहिए। इन दो तत्त्वों के बीच से होकर जीवन बहता है। तो मृत्यु से भय नहीं है, मृत्यु शब्द के साथ जो सहचारी भाव जोड़े गए हैं, हो सकता है कि उनके कारण भय जागरित होता हो। हो सकता है प्रत्येक के भीतर 'अहम् अस्मि, अहम् अस्मि', 'मैं हूँ, मैं हूँ' यह जो निरन्तर स्फुरण है उसको मूल से तन के साथ, मन के साथ जोड़ दिया गया हो। और जहां तन के अंत और मन के अंत होने की परिस्थिति आती है, वहां 'अहम् अस्मि' इस प्रस्फुरण का तो अन्त न होगा? यह सबाल खड़ा होता होगा। इस स्फुरण को तन के और मन के साथ जोड़ने के कारण मृत्यु का भय लगता होगा। मृत्यु क्या है, यह आपको मालूम नहीं है। जो ज्ञात नहीं है उससे भय कैसे? पता नहीं इस देश में अज्ञात के साथ भय को, अशुचि को, अमंगल को क्यों जोड़ दिया गया है और अस्तु-

रक्षा के साथ अज्ञात ही क्यों जोड़ दिया गया है। ज्ञात का मोह है। ज्ञात से चिपके रहने की इच्छा होती रहती है। कहीं इस इच्छा की छाया को तो आप भय नहीं कह रहे हैं? सुरक्षा की वासना, ज्ञात का अग्रचल छोड़ने नहीं देती। ज्ञात का अग्रचल न छूट जाए इसका भय है, मृत्यु का नहीं। क्योंकि हरेक व्यक्ति जानता है कि जन्म के दिन से ही प्रति-दिन मृत्यु के निकट जा ही रहे हैं। वह तो टलेगी नहीं। आएगी। इसलिए भय मृत्यु का नहीं है। मोह ज्ञात का है। सुरक्षा का आग्रह है और सुरक्षा के आग्रह के लिए जहां स्थान नहीं वहां भय के लिए भी स्थान नहीं।

और एक बात हो सकती है कि मन विचार करके भय को पैदा कर देता है। मरना तो एक ही बार पड़ता है लेकिन मरने के भय से रोज जो रोते रहते हैं, भीतर सिकुड़ते रहते हैं, सिमटते हैं, वे बड़ी मुश्किल में पड़ते हैं। मरना तो एक पल-भर में हो जाता है। वह कोई समस्या नहीं है। रोज सोचते हैं कि मरूंगा तो क्या होगा? कैसे होगा? मेरे मरने के बाद मेरे बाल-बच्चों का क्या होगा? देखिए, कैसे-कैसे तवाल है! मेरे मरने के बाद मेरे बाल-बच्चों का क्या होगा, इसकी चिन्ता मैं करूँ? तो मृत्यु नाम की जो घटना है, उस घटना को लेकर कल्पना करते रहते हैं। और कल्पना से भयभीत होते हैं। जीवन के तथ्य से भयभीत होने वाले कम हैं। कल्पना से भयभीत होने वाले ज्यादा हैं। नहीं तो जिसको मालूम है कि मरना ही है, शरीर एक दिन छूटना ही है, वह व्यक्ति तो हंसते-हंसते मरता है, मारा नहीं जाता। जीवन के तथ्य के साथ प्रतिक्षण रहने का जो साहस करता है उसे मृत्यु का भय नहीं रहता।



## तृतीय प्रवचन

२८-२-७०

### आत्मा की एकता

आत्मा की एकता और अविभाज्यता को पहचानना और उस एकता में, अविभाज्यता या अखण्डता में जीना आध्यात्म का मर्म है। लोगों ने आध्यात्म को जीवन से अलग समझ लिया है। आत्म-साक्षात्कार के लिए, आत्म-रति के लिए, जीवन से विमुख होना पड़ता है, जीवन से बाहर कहीं आत्मा को खोज करनी पड़ती है—यह भ्रम बहुत प्रचलित है। दैनिक जीवन ही जीवन की वास्तविकता है। सुबह से रात तक के व्यवहार में हमारा जो अन्तरंग प्रतिबिम्बित होता रहता है, वही हमारे जीवन की यथार्थता है। इस दैनिक जीवन को छोड़कर और कहीं दूसरा जीवन नहीं है। सम्बन्धों में और व्यवहार में प्रतिबिम्बित होने वाली यथार्थता को छोड़कर कहीं और हमारी सत्ता नहीं। जीने को बन्धन नाम दिया जाता है, पर इस बन्धन के अतिरिक्त कहीं मुक्ति का निवास नहीं। जीवन को अलग-अलग खण्डों में, टुकड़ों में बांट लेने का ही नाम संसार है। परमार्थ अलग और व्यवहार अलग। आध्यात्मिक जीवन अलग और भौतिक अलग। इस प्रकार से जीवन को विभाजित करना ही पाप है, यही अघर्म है। यही बन्धन है, यही संसार है। पर इस देश में व संसार में यह मान ही लिया गया है कि एक भौतिक जीवन या व्यावहारिक जीवन है और एक आध्यात्मिक या पारमाधिक जीवन है। यह जो जीवन का अलग सत्ताओं में बांटना, विभाजन करना है, यही सब पापों की जड़ है।

इसीलिए ग्राह्य मानव विच्छिन्न-व्यक्तित्व का बन गया है। परस्पर विसंगत और विरोधी मूल्यों को धारण करके एक ही व्यक्ति जीएगा तो विकसितचित्त क्यों न बनेगा ? घर में बच्चों से कहेंगे सत्य बोलो, सत्य ही बोलना चाहिए। और दुकान पर जाकर, दफ्तर में जाकर कहेंगे कि व्यापार के लिए, नौकरी के लिए झूठ बोलना ही पड़ता है। व्यवहार में निरपेक्ष सत्यता नहीं है। सापेक्षता के बिना व्यवहार चलता ही नहीं। देखिए क्या होता है ! घर में कहेंगे सत्य बोलो, प्रेम से रहो। एक रोटी है तो सब बांटकर खाओ। और बाहर निकले तो ? कहेंगे, स्पर्धा के बिना तो उन्नति ही नहीं होती, उसके लिए पड़ोसी को भी, किसी भी प्रकार, पीछे हटाकर खुद भागे बढ़ सको तो बढ़ो। स्पर्धा ही जीवन का नियम है, ऐसा सुन्दर नाम दे दिया गया है उसको। यदि घर में बच्चे स्पर्धा और संघर्ष करें तो कहेंगे कि यह परिवार है, इसमें तो एक चीज सात आदमी बांट के खाएं। और बाहर जो मानवीय परिवार है उसमें यह नियम नहीं। वहां तो स्पर्धा, संघर्ष, हिंसा अनिवार्य हैं, स्वभाव है मनुष्य का। संघर्ष के बिना उन्नति नहीं है। फिर सिद्धान्त-प्रतिसिद्धान्त, समन्वय बहुत कुछ बतलाएंगे।

### विभाजित जीवन

आपके सामने अपनी वेदना को दृढीकृत करके रख रही हूँ कि मनुष्य ने जीवन को शतधा कर दिया है। यह जीवन का विभाजन, एक ही व्यक्ति के जीवन में परस्पर विसंगत विरोधी मूल्य धारण करना, उनमें समझौता करने का निरर्थक प्रयास करना, उनके अनुसार चलने में जितना पालण्ड, दम्भ, डोंग आए, दमन-निग्रह आए, उसे जीवन कहना—यही बन्धन है, यही माया है। इससे निस्तार तब होता है, जब यह देखा और पाया जाता है कि जीवन एक है, अविभाज्य है। जीवन में अन्तर भी नहीं, बाह्य भी नहीं। हमारी आँख भीतर नहीं देख पाती, इसलिए उसे आन्तर बना दिया। जो चमड़ी से बाहर है, उसको बाह्य मान लिया। जीवन तो एक ही है, उसमें अन्दर कहां और बाहर कहां ? उसमें एक कहां और अनेक कहां ? एक और अनेक का भेद तो

हमने पैदा किया है। हमने संख्या बनाई, हमने गणित बनाए। जीवन पर उनको लादा। जीवन में द्वैत भी नहीं, अद्वैत भी नहीं। एकता भी नहीं, अनेकता भी नहीं। गिनती प्राप्त करते हैं। जीवन में आज नहीं, बीता हुआ कल नहीं, आने वाला कल भी नहीं। सूर्योदय होता है, और सूर्यास्त होता है, वह आपको नजर से होता है। सूर्य के पास न उदय है न अस्त। प्रकाश हुआ तो आप दिन कहते हैं। प्रकाश न दीखे तो उसे आप रात कहते हैं। सूर्य तो न दिन जानता है न रात। आपने बनाया है ६० सैकण्ड का एक मिनट, और ६० मिनट का एक घण्टा। समय में घण्टे नहीं, मिनट नहीं, सैकण्ड नहीं, वर्ष नहीं, युग नहीं। जो अनन्त है, शाश्वत है, उसको आप अपनी बुद्धि की कैंची से कतरते हैं। समय को काट-काटकर अपने सामुदायिक सम्बन्धों की व्यवस्था के लिए आपने दिन बनाए, घण्टे बनाए। नहीं तो इस भौतिक काल-गणना में कोई सत्यता नहीं। एक प्रतीक-भर है, और कुछ नहीं।

अपने बनाए हुए प्रतीकों को ही मनुष्य सत्य मान बैठता है। अपने किए हुए विभाजन को ही जीवन का तथ्य मान बैठता है। अपने बनाए हुए मूल्यों की परस्पर विसंगति में उसका दामन उलझ जाता है, और वह उसीमें फँस जाता है। सब बन्धन मनोनिर्मित हैं। जीवन में न बन्धन है, न मुक्ति। जीवन की तो बस सत्ता है।

कह यह रही थी कि ऐसे कान्तिकारियों की आवश्यकता है जो जीवन की एकता और अविभाज्यता को पहचान लें, और उसमें जीने का साहस करें। जिस प्रकार शरीर की आवश्यकताएं और आवेग सबमें समान हैं, मन की सुख और दुःख की संवेदना संसार में सर्वत्र समान है। अहंता की पुष्टि और तुष्टि के साधन भी सारे संसार में समान हैं। रंग-बंग भ्रम-भ्रमण हैं। यह यन्त्र के स्तर पर एकता हुई। तब और मन को उसी अर्थ में यन्त्र कह रही हूँ जिसमें किसी सितार या वीणा को बाद्य-यन्त्र कहा जाता है। उसी प्रकार का यह भी एक बाद्य है, साज है जीवन का। जिसके सुरों को मिलाना होता है। लेकिन एकता कोई यन्त्रवत् समानता नहीं है। वह तो जीवन की एकता और अविभाज्यता है।

## जीवन की ऊर्जा

जल का नन्हा-सा स्रोत चट्टानों को तोड़कर जब वह निकलता है, वहाँ जीवन की ऊर्जा प्रकट होती है। बहती हुई नदियाँ जब सागर की ओर दौड़ती ही जाती हैं—अथक, अलखण्ड, बिना विश्राम के, वहाँ जीवन की ऊर्जा है। बीज अंकुरित होकर घाती को भेदकर, छेदकर ऊपर को उठता है, वह भी जीवन की ऊर्जा है। जैसे इस सृष्टि के अनन्त रूपों व आकारों की जड़ में ऊर्जा का ऊर्ध्वमुखी स्पन्दन है, वैसे ही मनुष्य के भीतर भी ऊर्जा पड़ी है। उसके सारे अस्तित्व के पीछे भी एक ऊर्जा है, जो छटपटाती है व्यथित होने के लिए, अपनी समग्रता में व्यक्त होने के लिए। बीज अंकुरित होता है तो सम्पूर्ण बीज अंकुर में परिवर्तित हो जाता है। पौधा है, वृक्ष बना, फूल खिले। प्रत्येक कली खिलती है, तो अपनी समग्रता में खिलती है। वैसे ही फूल में वृक्ष का जीवन-रस परिपूर्ण रीति से उतरता है। कहीं भी तो अपूर्णता नहीं होती। जल के एक बिन्दु में बही नीतलता, वही प्रबहन-शक्ति, वही मार्दव है, जो सागर में है। संसार में जिस प्रकार अपनी पूर्णता और समग्रता को व्यक्त करने की चेष्टा है, यह जो विश्व विघाता का एक छन्द है, जिसमें से उसका संगीत, उसका ताल, लय प्रकट होते हैं। उसी प्रकार इस मानव-जीवन में से भी संगीत निपजे। अपनी समग्रता को लेकर वह ऊर्जा प्रकट हो सके—यह छटपटाहट है।

अध्यात्म है उस समग्रता या पूर्णता को प्रकट होने का अवसर देना। यह सम्पूर्णता, समग्रता, व्यक्त नहीं हो पाती, क्योंकि आपने विभिन्न मूर्तियों को विभिन्न नामों से सुशोभित करके रखा है। जब भीतर से सत्य दिखता है, और सत्य बोलने की इच्छा होती है, क्योंकि वही जीवन का स्वभाव है, जो देखा गया, जो पाया गया, उसको प्रकट करने के लिए वाणी छटपटाती है, तो आप सिखाते हैं उसे “बोलना नहीं”, तुम्हारी राय इसको मालूम होगी वह क्या कहेगा? अधिकारी क्या कहेगा? पार्टी का प्रमुख क्या कहेगा? अपने को क्या करना है? चुप भी तो रह सकते हैं सत्य दिखने पर भी! अपनी क्या जिम्मेदारी है?”

बस ! बोलेंगे नहीं। जवान नहीं खोलेंगे। दिखे हुए सत्य को सौदे के तराजू में रखेंगे कि यह यदि प्रकट करूं, बोलूँ तो परिणाम क्या होगा ? सुरक्षा के रूप में परिणाम क्या होगा ? वह अनुकूल हो तो बोलूँ, नहीं तो नहीं बोलूँ। इस तरह सत्य का दिखना भी एक तनाव बन जाता है। राजनीति, अर्थनीति और परिवार में भी यह सब चलता है।

क्रोध आया। उसे देखें, समझें, कबूल करें कि मुझे क्रोध आया। पर नहीं कबूलेंगे। अपने-आपसे कबूल करने में भी लज्जा है। क्रोध दिखे तो भी उसका समर्थन बुद्धि बूढ़ लेगी। अच्छा वकील भगवान् ने भीतर रखा है। जिघर 'briefing' दे दो जघर का काम कर देती है। उसके द्वारा पहले अपना समर्थन खोजते हैं कि मुझे क्रोध क्यों आया ? इसका दायित्व किस पर है ? मेरे माता-पिता का क्रोध मुझमें उतरा है। मेरा शिक्षक ऐसा था। मेरी पत्नी का स्वभाव ऐसा है। ये बच्चे ही ऐसा करते हैं। समाज की हालत बहुत बुरी है। इत्यादि। इसलिए क्रोध आ गया। क्रोध को देखते नहीं। क्रोध को देखने से पहले ही, क्रोध की जड़ तक पहुंचने से पहले ही, समर्थन उपस्थित हो गए हैं। उन समर्थनों के कारण फिर पाखण्ड, दम्भ, डोंग का अवसर मिल गया है कि मैं जिम्मेदार नहीं हूँ, दूसरे कोई जिम्मेदार है। ऐसे अपरिपक्व मानव आज हैं कि अपने विकारों और विचारों की भी जिम्मेदारी खुद कबूल करने को तैयार नहीं हैं।

ऐसे मानव को भला मैं बालिग कैसे कहूँ जो अपने जीवन की जिम्मेदारी खुद उठाने को तैयार नहीं। मामूली-मामूली चीजों में भी ऐसा हो करते हैं। और जीवन में तो कुछ भी मामूली है ही नहीं। कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं, महान् नहीं, अच्छा नहीं। कोई क्षण कम महत्त्व का नहीं। समाज में जो विभिन्न, विसंगत परस्पर-विरोधी मूल्य दिखते हैं, मनुष्य बुद्धि से जानता है कि वे ठीक नहीं, परस्पर विरोधी हैं, और वह भी जानता है कि इनको स्वीकार करने से मेरे व्यक्तित्व में छिन्नभिन्नता आएगी। उसकी बुद्धि ही तो उसका अभिशाप बन गई है। लेकिन कहता है "क्या करे ? समाज में जीना है तो ऐसा सब

करना पड़ता है।" गलत मूल्यों का गुलाम बनने को राजी है, लेकिन अपने दर्शन के लिए मरने को राजी नहीं हैं। अपने को जो सत्य दिखता है, उसके लिए सड़ा हो जाए और जीए यदि समाज जीने दे, और मरे यदि समाज मार डाले तो।

### अध्यात्म है क्या ?

अध्यात्म है अपनी उपलब्धि में जीना। उपलब्धि मनुष्य को हमेशा एकता की होगी। क्योंकि जीवन का स्वभाव है एकता। लोग कहते हैं—“हम धार्मिक प्रवचनों में जाते हैं, आध्यात्मिक शिविरों में जाते हैं, इतने प्रवचन सुनते हैं, इसको सुना, उसको सुना, यह पढ़ा, वह पढ़ा, कुछ भी होता-जाता नहीं।” होगा कैसे ? प्रवचन एक घण्टा सुनते हैं। तेईस घण्टे जिन मूल्यों को मान्य, स्वीकार करके आप जीते हैं वहां उस एक घण्टे की चटनी पिस जाती है। तेईस घण्टे सामाजिक मूल्यांकन का स्तर रहता है। जीवन के विभाजन का जो अभिशाप है मानवीय मन पर, उसे स्वीकार करके तेईस घण्टे जीना, और बचे हुए एक घण्टे में मौन के लिए बैठें तो उसमें आपको सत्य की उपलब्धि हो जाए, प्रसाद मिले, पता नहीं क्या-क्या मिले, सन्तुलन मिले, समाधि भी लग जाए, आश्रम में प्रवेश हो जाए, सब कुछ हो जाए उस एक घण्टे में। फिर तेईस घण्टे उन्हीं विरोधी मूल्यों में जीएं, क्योंकि वह तो व्यवहार है न ! परिवार जो चलाना है !

जीना महत्त्व का नहीं है आपके लिए। समाज में स्थापित हितों की रक्षा करने वालों के साथ प्रतिष्ठा, सत्ता प्राप्त करते हुए आपको रहना है। जीवन का महत्त्व नहीं है। जिस संसार को मिथ्या कहते नहीं सकते उसीको मान्यता चाहिए। जिस समाज के मूल्यों को गलत कहते हैं एक जवान से, दूसरी सांस में उसीसे प्रतिष्ठा पाने की कोशिश में प्रतिदिन पांच-छः घण्टे लगा देंगे। क्या करें ? वह आत्मा भी क्या करे ?

### सहजता भीतर है

जाता हो ? वह बेचारी पूर्णता, समग्रता, उन्मुक्तता, सहजता भीतर बँठी है। प्रभु कहते हैं कि प्रत्येक के हृदय में मैं चिर-प्रतीक्षा में बैठा हूँ कि कब यह द्वार खोले और कब मेरा संचार जीवन में होने दे ? किन्तु, जैसे ईसाई लोग 'थोसु' को क्रॉस पर टांग के रखते हैं। खबरदार जो नीचे उतरे और हमारे जीवन में आए तो ! "तुम्हारे शिखर-प्रवचन (समन-ग्रॉन-द-माउंट) में आधुनिक अर्थनीति नहीं है। ये वर्तमान समाज के भी अनुकूल नहीं है।"—यह सब इंग्लैण्ड में मुझसे कहा गया था, अपने मन से नहीं कह रही हूँ। वैसे ही भारत में भी भगवान् को मन्दिरों में, मूर्तियों में बन्द करके रख दिया है। "उन मूर्तियों से बाहर नहीं निकलना।" यदि रामजी की मूर्ति में से प्रभु बाहर निकलें और कहें—“चल तू सत्य पर, मैं तुम्हको चलाता हूँ। मैं तेरी उंगली पकड़ता हूँ।” तो उनसे भी प्राप्त कहेंगे कि “भाई, ऐसा नहीं। सत्य तो मन्दिर में बैठकर बोलने का विषय है, जीवन में जीने का विषय नहीं है। नहीं तो मेरी नौकरी छूट जाएगी। फिर मेरे व्यापार में मुझे कुछ लाभ नहीं होगा। बैंक में धन नहीं रहेगा।”

यदि इस समाज के गलत मूल्यों पर आधारित समाज-रचना का आपके पास महत्त्व है, और गलत मूल्यों पर चलने वाले समाज से आपको प्रतिष्ठा पाने की इच्छा है, तो मेहरबानी करके अध्यात्म के रास्ते पर न जाना, और हम जैसे क्रान्तिकारियों की बात कभी नहीं सुनना। हम आपको बेचैन बना देंगे। आपका खाना-पीना हराम हो जाएगा। हमारे रास्ते मत आना। यह अग्नि की ज्वाला है, इसकी लपटों में जो भी आया है, वह झुलसा है। बिना आंच लगे, बिना झुलसे, कोई वापस नहीं जाता है। यह क्रान्ति का काम है। अध्यात्म कोई बौद्धिक, भावनात्मक, मन-बहुलाव का विषय नहीं है। निर्वाह की चिन्ता नहीं, इसलिए एक शोक बना लें, ऐसे बौद्धिक, तयाकथित विद्या-सम्बन्धी शोक का विषय अध्यात्म नहीं है। वह तो संग्रह हो जाएगा। प्लॉटिनस ने क्या कहा ? सुकरात ने क्या कहा ? उपनिषदों में क्या निम्ना है ? थियोसोफिस्ट क्या कहते हैं ? कृष्णमूर्ति क्या कहते हैं ? जैन-बौद्ध दर्शन क्या कहते हैं ? इन सबका आप बुद्धि में एक अच्छा-सा संग्रहालय बना ले सकते हैं। मस्तिष्क

में सुन्दर संग्रह जुट सकता है विचारों का, अनुभूतियों का। जब ज़रूरत पड़ी एक-एक निकालकर दिखा सकते हैं, उद्धरण दे सकते हैं, जैसे पुस्तकालय में से पुस्तकें निकाल के दिखाते हैं, लेकिन इससे काम नहीं चल सकता। ज़रूरत है क्रान्ति की। ज़रूरत है जीवन की एकता में जीने वालों की, जो समाज में से संघर्ष और हिंसा का ताण्डव समाप्त कर सकें। लेकिन आपके पास एकता में जीने का साहस नहीं है।

### प्रेम की धार

प्रेम की तीखी धार चुभ जाती है। "शब्द बाध जिन अन्तर लागा, कहे कबीर सोई नर जाया।" किसी-किसीको लग जाते हैं ये शब्द-तोर। ऐसे ही किसीको लग जाए, इसी आशा में तो बैठे हैं। उसके आसू बहें, तो पाँछोंगे भी नहीं। आसू बहने देंगे ताकि उसके अन्तर का कल्मष घुल जाए। झूल चुभे किसीके उर में, वेदना जामे कि यह हम कहां पड़े हैं छिन्न-भिन्न होकर। ऐसी भूख, ऐसी प्यास, किसीके दिल में जाग उठे जो समग्रता को प्रकट होने दे। वेदना, व्यथा और पीड़ा का उपहार लेकर आपके पास आए हैं, सान्त्वना का नहीं। जिनको परस्पर मोह हो, प्राप्त हो, वे ही सान्त्वना देते घूमते हैं।

अतएव, अघ्मात्म है जीवन की एकता को पहचानना और जीना। एकता ही जीवन का सत्य है। इस एकता में निषेध के लिए, खण्डन के लिए, कहीं अवकाश नहीं। निषेध न तन का होगा न मन का, न गुणों का न दोषों का, न विचार का न विकार का। खण्डन और निषेध में सर्जन की शक्ति नहीं। इसलिए निषेध में नहीं लगेंगे। करेला कड़वा क्यों है? नींबू खट्टा क्यों है? यही सवाल पूछते रहेंगे तो भोजन में पहरस नहीं आएगा। तरह-तरह के लोग हैं संसार में। अलग-अलग स्वभाव हैं सबके। कोई खट्टे हैं, कोई मीठे हैं, कोई तुर्ष हैं, किसी में कड़वाहट है। उनसे बचने की कोशिश नहीं होगी। जो मीठे लगते हैं, उनसे चिपके रहने की भी कोशिश नहीं होगी। मनुष्य फिर सुख-दुःख के, मान-अपमान के, प्रिय-अप्रिय के द्वन्द्वों में से बहने वाले जीवन को देखेगा,



द्वन्द्वों को नहीं। बादशाह जैसी शान से वह जीवन में से निकल जाता है, जीता हुआ चला जाता है—द्वन्द्वों के बीच में बहने वाली जीवनधारा में। उसके लिए द्वन्द्व महत्त्व के नहीं। न सुख में फँसता है, न दुःख में घँसता है। कहने का मतलब यह कि द्वन्द्व और द्वैत का भी वहाँ निषेध नहीं है। नहीं तो द्वैत को छोड़ने और अद्वैत को पकड़ लेने की एक नई ग्रन्थि बना लेंगे, और तब द्वैत के व्यवहार का एक ढाँचा बनाकर अलग एक अहंपवित्रतावाद-श्रेणी का निर्माण करेंगे।

कहना यह चाहती हूँ कि इस एकता के प्रत्यय को सुबह से रात तक अपने व्यवहार में सहज प्रकट होने दें। एकता आत्मीयता के द्वारा प्रकट होती है। निषेध और स्वीकार दोनों से नितान्त भिन्न एक भूमिका हो सकती है। उदाहरण दूँ। आहार लेने बैठे हैं। शरीर को जो अनुकूल पड़ा उसका सेवन किया, जो प्रतिकूल पड़ा वह नहीं लिया। लेकिन उसमें से भी एक नियम बनाया कि यही खाना चाहिए, यह नहीं खाना चाहिए। उसीमें से एक विधि-निषेध पैदा कर लिया। उसके साथ नैतिक मूल्य जोड़ दिए। उसमें महत्ता-हीनता, पवित्रता-अपवित्रता का भाव जोड़ दिया। देखिए कितना जंजाल खड़ा किया? आग्रह भी हो गया चित्त में कि मैं जो खाता हूँ, जो करता हूँ, वह श्रेष्ठ है, दूसरे जो करते हैं वह गलत है। सामान्य-सी बात है, एक व्यक्ति के शरीर के लिए जो अनुकूल होगा वह सबके लिए अनुकूल पड़े यह नहीं हो सकता। लेकिन हमने विश्वव्यापी नियम बना लिए हैं, और उसके साथ नैतिकता को जोड़कर एक ग्रन्थि, एक समस्या, नाहक खड़ी कर दी है। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को यह बतलाना पड़ेगा कि हमारा आहार क्या हो? उसे भी श्रेणीबद्ध, स्तरबद्ध करना होगा? कहीं भी मनुष्य स्वतन्त्र न रहने पाए।

मनुष्य स्वतन्त्रता चाहता भी नहीं, डरा हुआ है। "यह बताओ, हमको यह बताओ।" "यह कैसे करें?" यहाँ तक कि व्यवहार में प्रत्यन्त पुष्पार्थ करने वाला व्यक्ति परमार्थ के नाम पर एकदम पहली शिशु-कक्षा (के० जी०-१) का बन जाता है। सब बतलाया जाए। उसमें सुरक्षा है। फिर करेंगे। अपने-आप नहीं खोजेंगे।

## जीवन की सरलता

हम जीवन की एकता की बात कर रहे थे। जैसे मैंने खोजा और मेरे लिए अनुकूल-प्रतिकूल देखकर न आग्रह किया त निषेध किया, जो जितना अनुकूल था शरीर को दे दिया। इतना सरल है जीवन। उसे सरल ही रखा। दूसरे व्यक्ति भी ऐसा ही सरल रखकर देख लें। पूरी स्वाधीनता है उन्हें सरल जीवन को सरल ही रखने को। इसे ही मैं कहती हूँ व्यवहार में एकता की चरितार्थता। एकता का प्रकट होना। अपनी इच्छा-प्रवृत्ति और अपने मूल्य दूसरों पर थोपने की इच्छा ही नहीं। किन्तु प्रायः सोचा यह जाता है कि मैं एक घण्टा ध्यान में बैठती हूँ तो मेरे पतिदेव क्यों नहीं बैठते? मेरी पत्नी क्यों नहीं बैठती? मुझे यह प्रिय लगता है, उसके क्यों वहीं लगता? मतलब यह कि एक-दूसरे को अपनी प्रतिनिधि बनाना चाहते हैं। जब तक पत्नी को, बच्चों को अपनी प्रतिच्छवि या प्रतिनिधि बनाकर न छोड़ें, तब तक मानते हैं कि जिम्मेदारी पूरी नहीं हुई। अपने अनुभवों का प्रामाण्य दूसरों पर लादना चाहते हैं। यह एकता नहीं है। आग्रह और निषेध एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एकता में इन दोनों से चित्त मुक्त हो जाता है। अपनी उपलब्धि में, प्रयत्न अपनी समझ में, जो प्राया उसीमें जीने वाला व्यक्ति स्वाधीन, स्वतन्त्र होता है। इसीलिए वह दूसरे किसीको गुलाम बनाना नहीं चाहता।

परस्पर सम्बन्धों में और व्यवहार में अभय और स्वतन्त्रता कैसे आती है, इसे मैं बतला रही हूँ। जब तक प्राय दूसरों की प्राप्ति में भ्रंश-कर, उसके मूल्यों के अनुसार अपने-आपको तौलना चाहते हैं, तभी तक भय है। जिस दिन यह चेष्टा समाप्त हो जाएगी कि दूसरे की राय पर मैं अपना मूल्यांकन करूँ, उस दिन जीवन में आनन्द का उन्मेष होगा। जब तक दूसरों की दी हुई प्रतिष्ठा पर जीना, दूसरे के मूल्यांकन पर अपने-आपको तौलना, अपने जीवन के लिए दूसरे पर निर्भर रहना बना रहेगा, तब तक जीवन में आनन्द नहीं है। यदि दूसरा कोई न कहे कि तुम बड़े भले लगते हो, तब तक अपनी भलाई का प्रत्यय आपको नहीं

जाता । इतने पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि हो गए हैं मनुष्य । पराकांक्षी, परजीवी हो गए हैं ।

### स्वाधीनता अन्वर है

स्वाधीनता या स्वतन्त्रता बाहर कहीं से लानी नहीं है । अपने प्रत्यय में जीने का साहस करेंगे, तो दूसरे की आंख में झांक-झांककर उसके अनुसार जीने की आदत छूट जाएगी । भय चला जाएगा । गुलामी चली जाएगी । मनुष्य अभय में जीएगा । आपके चित्त में सवाल यही उठते हैं कि “समाज क्या कहेगा ? अड़ोसी-पड़ोसी क्या कहेंगे ?” यह नहीं कि “मेरे भीतर प्रत्यय क्या है ? उस प्रत्यय से मैं प्रामाणिक हूँ या नहीं ? आखिर दूसरा व्यक्ति मेरे लिए तो जीता नहीं है ?” पर अपने भरोसे जीना जानते ही नहीं आप ।

अध्यात्म है आत्म-निर्मरता । गलती होगी तो होगी । जो चलने वाला है, वह ठोकर भी खाएगा । भूल से भला क्या डरना ! भूलें होंगी, ठोकरें लगेंगी, गिरेंगे, उठेंगे, चलेंगे । दूसरे के बनाए हुए रास्ते पर चलने में क्या मजा ? एक-एक कदम बढ़ाकर अपने लिए पगठण्डी बनाते चलने में आनन्द है ।

अध्यात्म है जीना । इसे आप विशेषित बना देते हैं — “सुरक्षा में जीना” — ऐसा मानकर । यह सुरक्षा क्या बला है मेरी समझ में नहीं आता । दूसरों की आंखों में झोंककर, उनकी तुलना में खरे उतरकर, उनके नाप-तौल में प्रतिष्ठित सिद्ध होना — यही है सुरक्षा ? क्या अपने भीतर अपनी सुरक्षा नहीं है ? क्या अपना प्रत्यय अपनी सुरक्षा नहीं है ? अपनी सुरक्षा बाहर खोजी जाती है । सुरक्षा के उपासक होते हुए अपने ही प्रत्यय पर भरोसा नहीं रख सकते । प्रत्यय के दारिद्र्य को बाहर की सम्पत्ति का ऐश्वर्य कभी दूर नहीं कर सकता । इसीलिए जीवन निस्तेज, निष्प्रभ, कालिमा से छाये हुए रहते हैं । सन्देह के काले बादल हमेशा चेतना पर भंडाराते रहते हैं कि “क्या करें ? कल परिस्थिति तो नहीं बदलेगी ? कल समाज की राय तो नहीं बदलेगी ?” सन्देहों और भयों से जिनकी चेतना आच्छन्न है, वे कैसे जी पाएंगे ? आसमान में

बादल रहते हैं तो दिन कैसा लगता है? दुर्दिन कहते हैं उसे आप। "अरे आज दुर्दिन है। सूर्य नहीं निकला।" स्वप्रत्यय के आलोक में जीना अघ्यात्म है। अतः सुरक्षा यदि खोजनी है तो अपने प्रत्यय में खोजें, बाहर नहीं।

### प्रत्यय की सुरक्षा

प्रत्यय की सुरक्षा में जीने वाले अभय होते हैं। निर्भय नहीं कह रही हूं, क्योंकि भय के विपरीत भाव को लोगों ने निर्भयता मान लिया है और निर्भयता के भी संस्कार कराते हैं, शिक्षण देते हैं। मन की भूमिका पर भय भी है, और निर्भयता भी। इसलिए अभय शब्द का प्रयोग कर रही हूं। निर्भयता का अर्थ है—“निषेधः वर्तते भयस्य यत्र” (जहां भय का निषेध है) वह नहीं—“अभावः वर्तते भयस्य यत्र” वह अभय है। आत्म-प्रत्यय में सुरक्षा है, यह देखने और पानेवालों को फिर दूसरों की तरफ देखना नहीं पड़ता। अपने प्रत्यय से, छोटे से प्रत्यय से, एक कदम उठाने वाले के जीवन में जो सामर्थ्य है, जो सुषमा है, जो प्रसाद है, जो तेज है, वह उधार लिए हुए प्रत्ययों के आघार पर जीने वालों में नहीं आता। इसलिए मैंने कहा कि क्रान्तिकारियों की आवश्यकता है।

यह मूल्यों का कलेवर, जो आज समाज का बनाया हुआ है, इसका स्वीकार या निषेध किए बिना अपने भीतर के प्रत्यय खोजकर उसके आघार पर जीना शुरू कर दें। चेतना में क्रान्ति होनी चाहिए। वही है क्रान्ति का अधिष्ठान, जहाँ समग्र मानव बदल जाएगा। फिर उसके सम्बन्धों में यह परिवर्तन प्रतिबिम्बित होगा। मानवीय सम्बन्धों के बदलने से ही समाज की व्यवस्था बदलती है। समाज की व्यवस्था के प्रति विद्रोह करना तो क्रान्ति नहीं है। व्यवस्थाओं को बदलने के प्रयास बहुत हुए हैं। कानून की मार्फत हुए, बन्दूक की मार्फत भी हुए। व्यवस्था बदलने से कुछ अभाव और दारिद्र्य दूर भी हुआ है इससे इन्कार नहीं हो सकता। मनुष्य को जो मूलभूत आवश्यकताएं हैं, उनकी पूर्ति अधिक व्यापक प्रमाण पर भी कुछ लोगों ने कर दी है। लेकिन उससे न चेतना का रंग बदलता है, न चित्त की भूमिका बदलती है, न मानवीय सम्बन्धों

का स्वरूप बदलता है। वही सत्ता की अभिलाषा, वही संघर्ष, वही तनाव वर्तमान है। वह चाहे रूस और चीन में हो या रूस और यूरोस्लाविया या चौकोस्लोवाकिया के बीच हो। कोई एक-प्राध वच के सड़ा होता है व्यक्ति स्वातन्त्र्य के पक्ष में, तो उसके साथ क्या किया जाता है?— इतिहास प्रापके सामने है। समाज की रचना के खिलाफ केवल विद्रोह करने से समग्रता में क्रान्ति नहीं होती। यह कष्ट इतिहास पिछले सौ-बेड़ सौ वर्षों का है। क्रान्तिकारियों की, क्रान्ति के प्रेम की और प्रामाणिकता की कमी नहीं। बड़े प्रामाणिक लोग हैं।

### जीवन-विमुक्तता अध्यात्म नहीं

अध्यात्म के नाम पर संसार से भ्रमलग हटकर, जीवन से विमुक्त होकर, जिसे एकाग्र कहते हैं, उसमें जाकर बैठने वाले लोगों की उपलब्धियाँ, और समाज की रचना के खिलाफ विद्रोह करके उसमें परिवर्तन करने वालों की उपलब्धियाँ, दोनों एकांगी रह गई हैं। आज ज़रूरत है समग्रता में क्रान्ति, पानी समय क्रान्ति की। यदि जीवन की एकता भेरे लिए सत्य है, तो व्यवहार में वह चरितार्थ होगी। यदि महत्वाकांक्षा चेतना की व्याधि है, उससे अनन्त ग्रन्थियों का निर्माण होता है तो बच्चों को महत्वाकांक्षा का शिक्षण में नहीं दूंगा। यदि स्पर्धा में से संघर्ष उत्पन्न होता है तो स्पर्धा में मैं नहीं उतरूँगा। यह कहने वाले क्रान्तिकारी चाहिए। स्पर्धा किस प्रकार संघर्ष में परिणत होती है, यह जिनके ध्यान में आ गया, उनका स्पर्धामय या स्पर्धा पर आधारित जीवन छूट जाता है। नहीं तो, स्पर्धा से संघर्ष उत्पन्न होता है, यह मालूम है लेकिन जो समाज स्पर्धात्मक अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है उसका मैं सदस्य हूँ इसलिए वहाँ तो यह चलेगा। पर क्रान्तिकारी ऐसे समाज का सदस्य नहीं बनेगा। यदि अर्थनीति व राजनीति स्पर्धात्मक है, और स्पर्धा से संघर्ष और संघर्ष से हिंसा अनिवार्य है, तो उस सोपान पर से उतर जाना, उस मूल्यांकन के दुष्ट चक्र से हट जाना और जीना, यही क्रान्ति का प्रारम्भ है। क्रान्तिकारी यदि समाज से भाग जाएगा तो वह पलायनवाद होगा। उससे भी कुछ नहीं होगा। सत्ता का हस्तान्तर करने वाले भी कहीं नहीं पहुँचेंगे।

अपने भीतर जो परिवर्तन आता है, उसके अनुसार जीने की हिम्मत करनेवाले-मुट्टी भर भी निकलें तो हो सकता है कि वह क्रान्ति मानव को कहीं ले जाए। कल सहजीवन की बात आपसे कही थी, सहयोग की बात उठी थी। ऐसे स्वाधीन व्यक्ति ही एक-दूसरे के साथ सहयोग कर सकते हैं। जीवन की एकता और अविभाज्यता को पहचानने का रास्ता क्या है?—उत्तर होगा कि जो मन जीवन की सत्ता को विभाजित करता है, अन्दर और बाहर का, द्रष्टा और वृक्ष का, कर्ता और कर्म का, हेतु-प्रयोजन और फल-सिद्धि का द्वन्द्व खड़ा करता है, उस मन से परे जाकर जीवन कैसे घटित होता है, यह देखना है। यह जो समाज का मूल्यांकन तैयार करने वाला मन हमारे भीतर पड़ा है, उससे भी मुक्त होना पड़ता है। बौद्धिक स्तर पर विद्रोह करने से नहीं, लेकिन जिस मन में क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, संशय, अभिलाषा, स्पर्धा आदि के संस्कार पड़े हैं, उस मन से ही मनुष्य यदि मुक्त हो जाए, तो काम बने। उस मन से परे पहुंचकर जो चेतना, जो जीवन है, उसीको उपलब्ध करे तो शायद वह अपने भीतर ही नये मानव का सर्जन कर ले। इसलिए मन की गुलामी से हम मुक्त हों। समाज के मूल्यांकन के एक प्रतीक के रूप में मन हमारे पास है। उसमें भरे हुए हैं संस्कार व विचार। इन सबको शान्त होने दें, और इनके मीन में क्या घटित होता है, क्या शेष रह जाता है, उस शेष में कौन-सी उपलब्धि होती है, इसका देखें। चेतना के नये प्रायाम में गए बिना मानव को अब छुट्टी नहीं। कोई चारा नहीं।

प्रातःकाल ध्यान के विषय में जो कहा गया था उसीके अनुबन्ध में और अनुसन्धान में आपसे यह कहते हैं कि जब ध्यान में बैठते हैं तब मन का उपयोग नहीं करना है। मन को किसी क्रिया के लिए प्रोत्साहित नहीं करना है। मन से कोई अनुभव प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखनी है। मन को मीन होने देना है। शान्त होने देना है। यह जो प्रयोग करना है, यही मनुष्य की स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, कायम रखते हुए, मन से परे जो आयाम है, उसमें प्रवेश करने का द्वार खोल देना है। क्योंकि मन शान्त होने पर क्या घटित होगा यह आज बतला रखूं तो फिर आपके हाथों में एक नक्शा देना हो गया। यानी मैं अपनी कोई अनुभूति

आप पर लाडू तो उसीको लेकर आपकी कुछ धारणाएं, कल्पनाएं बन जाएंगी। दूसरों की अनुभूतियों का आधार नहीं लेना है, यह कहने वाला व्यक्ति अपनी अनुभूति का वर्णन आपके सामने रखकर आपको बांधना क्यों चाहेगा ? जिसे ज़रा भी स्वसम्मान है, वह व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा। इसलिए, मन के मौन में क्या घटित होता है, इसका वर्णन मैं आपको सुना दूँ और आपका अपमान करूँ, इतनी असिक्त तो नहीं हूँ। अपनी स्वाधीनता मुझे प्रिय है, उससे शत बार आपकी स्वाधीनता प्रिय है। इतना जरूर कहती हूँ कि मन के व्यापार शान्त होने पर निष्क्रियता नहीं आती। तन्द्रा नहीं, जड़ता नहीं। एक नये जीवन का प्रभात होता है। इतना जरूर कह दूंगी कि वह अभावात्मक नहीं है। प्रत्येक क्रान्तिकारी को मन के मौन में घटित होने वाले विस्फोट में से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार के विस्फोट में से गुजरने की हिम्मत और शक्ति प्रभु आपको दें, यह शुभेच्छा व्यक्त करती हूँ।

## चतुर्थ प्रवचन

१-३-१९७०

### सख्य का आनंद

गत दो दिनों में जो भी कहा गया था, वह मित्रों के पास किया हुआ आत्मनिवेदन था। सख्य का सत्त्व आत्मनिवेदन है। आत्मनिवेदन में जो प्रतिपादन बूढ़ने और खोजने जाते हैं, वे सख्य की भूमिका समझे नहीं हैं। संसार में अध्यात्म के विषय में सख्य की भूमिका से आत्मनिवेदन करने की परिपाटी ही अब तक नहीं है। जो आत्मानुभवों हैं, जो आत्मोगलब्ध हैं, वे सखा नहीं, वे मार्ग-दर्शक हैं, वे प्रमाण हैं, उनका जीवन, उनकी वाणी, उनके व्यक्तित्व और चरित्र की तरफ देखने की समाज की दृष्टि बदल जाती है। माना जाता है कि कोई असामान्य, अद्वितीय, असाधारण घटना घटी है। असाधारणता, असामान्यता के पार्यवय में उस व्यक्ति को समाज ढकेल देता है। और व्यक्ति स्वयं भी ढकेला जाना पसन्द करता है।

आपके साथ जिस व्यक्ति ने संवाद किया, उसके पास सख्य को छोड़कर दूसरी भूमिका शेष नहीं रह गई है। इसलिए बोलना मार्ग-दर्शन के लिए नहीं था, प्रतिपादन के लिए नहीं था। चितन की प्रेरणा जाग उठे, आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा जाग उठे, ऐसा भी जीवन जीया जा सकता है, ऐसा भी चेतना का एक आयाम है—इतना संकेत-भर भी आए हुए मित्रों को मिल जाए तो संवाद की कृतार्थता दुर्घ, ऐसा लगेगा। इससे अधिक जो बूढ़ने जाएंगे, लगता है, वे अपने साथ और संवाद करने-वाले व्यक्ति के साथ अन्याय करेंगे। प्रतिपादन नहीं, प्रचार नहीं। केवल



निवेदन है।

### शिष्य और गुरु

इस देश में सनातन काल से दो शब्द चलते आए हैं। शिष्य और गुरु। इन शब्दों को अत्यंत मावधान होकर देखने की नितान्त आवश्यकता है। जिसके हृदय में यह जिज्ञासा जागरित होती है कि मैं जीवन का अर्थ समझूँ, सत्य क्या है समझूँ, मैं कौन हूँ, क्या हूँ, इसकी खोज करूँ, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में सत्य की खोज के लिए अभिमुखता का जन्म होता है। ऐसी संदेह जिज्ञासा और अभिमुखता को शिष्य कहते हैं। शिष्यता एक माव है। उसके हाड़, मांस, अस्थि, मज्जा में जिज्ञासा और अभिमुखता के सिवा कुछ शेष नहीं रह जाता। तो जिज्ञासा और अभिमुखता की संदेहावस्था को ही शिष्य कहते हैं। शिष्य किसी व्यक्ति के नहीं हो सकते। क्योंकि यह भाव केवल सत्य के प्रति हो सकता है। यदि सत्ता है तो सत्य की है, जीवन की है। सत्य के उन्मेषरूपी प्रेम की है। सत्ता व्यक्तियों की नहीं, चाहे वे कितने ही महान् क्यों न हों। इसलिए शिष्यभाव या जिज्ञासा या अभिमुखता सत्य के प्रति होती है। व्यक्ति के प्रति उसको जोड़ने वालों ने भूल की है।

यह बात कहीं इस ढंग से कही नहीं जाती। किसीको दुःख होगा, संदेह उठेगा, लगेगा कि यह उद्दृष्टता है। लो इतने दुःख का निमित्त बनने की तैयारी की है। शिष्यभाव सत्य के प्रति हो सकता है, जीवन के प्रति हो सकता है। यदि क्षरणगति है तो सत्य और जीवन या प्रेम के प्रति है। व्यक्ति के प्रति नहीं। व्यक्ति के प्रति उसको समझने से ही संप्रदायों के जन्म हुए हैं।

जिस व्यक्ति की चेतना से अहंता का अंधकार समूल नष्ट हुआ है, सब संघर्षों का अस्त हुआ है, सब प्रकार के तनाव और दबाव मिट चुके हैं, ऐसी चेतना की अवस्था में रहने वाले व्यक्ति के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी न किसी हाड़-मांस में रहने वाली चेतना में ही वह अवस्था प्रकट होगी। तो गुरु पद है, गुरु चेतना की एक अवस्था है। लेकिन सत्य को किसी हाड़-मांस में सीमित नहीं किया जा सकता।

वह व्यक्ति हमें और आपको चाहे कितना ही प्रिय क्यों न हो, सत्य महान् है। व्यक्ति की चेतना में, व्यक्तियों की चेतना में सत्य के उन्मेष हो सकते हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है। लेकिन व्यक्तियों से सत्य महान् है। नित्य नूतन है। और प्रत्येक खोज करनेवाला जब सत्य को पाता है, तो उसके लिए वह सनातन होने पर भी नूतन है। उसमें ताजगी है, खुशबू है नयेपन की, अपूर्वता की, अद्भुतता की। जिस प्रकार प्रभात कभी पुराना और बासी नहीं होता। सूर्य की रश्मियां कभी पुरानी और बासी नहीं पड़तीं। हर साल होने वाली वर्षा में भी बूंदों की खुशबू और ताजगी नयी होती है। प्रतिदिन के आस कणों में नयी ताजगी रहती है। एक ही बेली पर खिलने वाले फूल हों—लेकिन वे एक-दूसरे की नकल नहीं होते। प्रत्येक की स्वतन्त्र, स्वाधीन सत्ता है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की चेतना जब उस अवस्था में पहुँचती है तो वह घटना अपूर्व है, अद्भुत है, अनोखी है, अनूठी है। सत्य की उपलब्धि अपने में एक अपूर्व, अद्भुत घटना होती ही है। तो जिस व्यक्ति की चेतना से ग्रहता का अन्धकार मिट जाने से सभी प्रकार के तनाव और दबाव हट गए हैं, और सभी संघर्षों का, अन्तर्द्वन्द्वों का अस्त हो गया है, ऐसी चेतना की अवस्था में अखण्ड जीने वाले व्यक्ति के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है। उसके हाड़-मांस को नहीं गृह कहा है। हाड़-मांस में वह प्रकट होती है प्रवश्य। इसलिए उसमें भी माधुर्य है, उसमें सौंदर्य है, उसमें सुपमा है। वह प्रिय लगना स्वाभाविक है। लेकिन सत्ता अस्थि-मज्जा की नहीं। वह पात्र है, चेतना को धारण करने वाला। और जिज्ञासा का सम्बन्ध, जिज्ञासा की अभिमुखता उस सत्य की उपलब्धि के साथ है। सम्पर्क वहां है। जैसे कोई किसी फ्रेम में पढ़ी हुई छवि को न देखे और फ्रेम को ही महत्त्व का समझे, कोई मन्दिर की दीवारों को ही महत्त्व का समझे और भीतर के प्रभु को भूल जाए, वैसे ही हाड़-मांस को गुरु समझने में होता है।

**आत्मा का स्वभाव**

आत्मा का स्वभाव है। प्रेम उसकी गति है। स्फूर्ति उसका उपादान है। तो ऐसे निरर्थ नूतन, नित्य स्फूर्तिशील, लावण्ययुक्त, प्रेमी व्यक्ति को जब जीवित रूप में देखते हैं, तो आकर्षित हो जाते हैं। भूल जाते हैं कि आकर्षण आत्मा के लावण्य का है, देह का लावण्य आत्मा के लावण्य का प्रतिबिम्ब-मात्र है। मिथ्या नहीं है, प्रतिबिम्ब है। वाणी में जो मार्दव है, सौष्ठव है; वाणी में जो स्फूर्ति है; शब्दों में जो बल है, तेज है, भोज है, वह आत्मा की उपलब्धि का है। लोग वाणी के सौन्दर्य में ही अटक जाते हैं। या तो रूप में अटक गए। उस व्यक्ति की देह में प्रतिबिम्बित होने वाले लावण्य पर रीझ गए हैं, और उसकी पूजा करने लग गए हैं। कुछ वहां से आगे बढ़े तो उस वाणी की निर्दोषता, सुकुमारता पर, जो शब्द-रत्न निकलते हैं, उनकी उज्वलता पर रीझ जाते हैं। आत्मा की उपलब्धि होने के बाद जो भी शब्द बोले जाते हैं, वाणी प्रकट होती है, वह सुस्पष्ट होती है, सुनिश्चित होती है। तो, ऐसी जो शैली है, उसमें प्रसाद है, उसी पर रीझ गए।

आत्मा स्वयमेव संगीत है। इसलिए उस वाणी में संगीत होगा, प्रसाद होगा, शैली होगी, सुकुमारता और प्रौढ़ता का अद्भुत सम्बन्ध होगा। इन सब पर रीझ जाते हैं। और भूल जाते हैं कि यह भी प्रतिबिम्ब है। शब्दों में जो संकेत हैं उनको पकड़ने के बदले हम शब्दों को पकड़ लेते हैं। जो शब्द और विचार प्रिय लगे उन्हींको पकड़ बैठे, उन्हींको रटने लगे, उन्हींको दुहराने लगे।

### गुरु का समागम

जिसको आप गुरु कहते हैं वह एक पद है। जो चेतना की एक ध्वस्था है, उससे संपर्क हुआ नहीं है। प्रतिबिम्बों में हम फंसे हैं। देह में प्रतिबिम्ब है उसमें फंसे, वाणी में प्रतिबिम्ब उठा उसमें फंसे। देखना चाहिए कि बिम्ब कहां है, जिसका लावण्य इतना मधुर है? और जो मादक है वह कहां है? जैसे प्रभु की सृष्टि में यह लावण्य और सौन्दर्य निखर उठता है। पहाड़ियों में, पर्वतों में, जलाशयों में, भरनों में, नदियों में, सागर में, वृक्षों में, बहलरियों में जो लावण्य प्रतिबिम्बित होता है,

यह तो प्रतिबिम्ब है किसी बिम्ब का ! तो इसका निषेध किए बिना इसीको सोगान बनाकर जाना चाहिए घागे बिम्ब तक । नहीं तो गुरु पद में रहने वाले, आलोक में, चेतना में स्थित रहने वाले व्यक्ति के साथ जन्म-मर रहते हैं, देह से सन्निध रहते हैं, वाणी से सन्निध रहते हैं, लेकिन जो अवस्था है उसकी सन्निधि में जाते नहीं हैं । तो फिर जीवन-मर साथ रहने पर भी हाथ खाली रह जाते हैं, और कहना पड़ता है कि वहां रहे, कुछ बाह्याचार उस व्यक्ति के सीख लिए, कुछ शब्द-प्रयोग सीख लिए, कुछ विचार की बाह्य पद्धति सीख ली । आखिर विचारों को भी शरीर के ढांचे में रखना पड़ता है । तो शरीर के बाह्याचार, वाणी के बाह्याचार रूपी ढांचे को या तन्त्र को पकड़ लिया । इसलिए मनुष्य खाली रह जाता है । नहीं तो यह हो नहीं सकता कि प्रात्मोपलब्ध व्यक्ति के संपर्क में कोई आवे और उनमें जिज्ञासा और अभिमुखता की ज्योति जल रही हो तो वह खाली हाथ लौटे । उसका स्पर्श ही न हो, यह नहीं हो सकता । लेकिन हम बाहर ही रुक जाते हैं ।

यह तो नहीं हो सकता कि किसी घर के प्रांगण में रुकें, उसके फाटक पर रुकें और कहें कि घर की सुरक्षितता हमें मिली नहीं । सीढ़ी तक गए हैं, ऊपर चढ़कर मकान में नहीं गए हैं, तो मकान के भीतर क्या है इसका साक्षात्कार कैसे होगा ? तो हम जिनको संत कहते हैं, गुरु कहते हैं, उनकी चेतना के प्रांगण पर खड़े होते हैं, उनके तन के, मन के, वाणी के दरवाजे तक जाकर रुक जाते हैं । शब्दों के छिलके छोड़ करके उनके भीतर जो रस है, उसका सेवन करें, तो जैसे जल के तुषार में जल की सत्ता है, वैसे अर्थ के रस में उस चेतना का स्पर्श पाएंगे । तब जीवन वही नहीं रहता । बदल जाता है ।

कल किसीने कहा कि क्या प्रध्यात्म में गुरु की ज़रूरत नहीं है ? जैसे हमारी ज़रूरत होने पर वे उपलब्ध होंगे या हमारे ना कहने से वे नहीं रहेंगे । ऐसा नहीं है । संसार में आत्मा की उपलब्धि के लिए अपने जीवन की प्रादुर्ति बढ़ाने वाले कई वीर हैं । सभी देशों में होंगे । किसी एक देश का एकाधिकार नहीं है । तो ऐसे व्यक्ति— आलोक में, चेतना में, अखण्ड प्रतिष्ठित रहने वाले व्यक्ति, जब समाज में घूमते रहते हैं

तो आलोक फैलता है। जिस किसीके सम्पर्क में आएंगे वहां अपना आलोक लेकर जाते हैं। दीपक कहीं अंधकार को लेकर नहीं जा सकता। सूर्य रात्रि नहीं ला सकता। उसी प्रकार ऐसे व्यक्ति जहां जाते हैं, वहां उनके जीवन से, उनके व्यक्तित्व से एक रस भरता रहता है। उसे प्रेम कहिए, शांति कहिए, प्रसाद कहिए, संतुलन कहिए या स्वास्थ्य कहिए।

### बहती गंगा

जिस किसीकी जिज्ञासा होगी, जिस किसीकी अभिमुखता होगी, उसको उसमें कुछ न कुछ लाभ मिलेगा। कुछ न कुछ मार्ग-दर्शन मिलेगा। मार्ग-दर्शन किया नहीं जाएगा। करने के लिए वहां अहंता शेष नहीं कि मैं तुम्हारा मार्ग-दर्शन करूंगा। मार्ग-दर्शन करने के हेतु धारण करके जो कर्म किया जाएगा, वह मार्ग-दर्शन तो हो नहीं सकता। इसीलिए मार्ग-दर्शन किया नहीं जाता। लेकिन पाया जरूर जा सकता है। किसी बाग में गए हैं, वहां अनेक प्रकार के फूल खिले हैं। आपने हाथ भी नहीं लगाए। मोगरे के, बेले के, चमेली के, जूही के, गुलाब के फूल हैं। सूं हैं, आपने स्पर्श नहीं किया है। फिर भी खुशबू आती है न? सुगन्ध आती है। उसका आनन्द भी मिलता है। उनके रूप से दुष्ट को संतोष और आनन्द मिलता है। लाभ मिला न? पुष्प यह नहीं कहता है कि मैं सुगन्ध दे रहा हूं। कह नहीं सकता। यह कहने के लिए जो शेष रहेगा वह पुष्प नहीं है। सुगन्ध ही पुष्प की वाणी है। प्रकाश दीपक की वाणी है। उसी प्रकार, निरहंकारिता, विनम्रता और प्रेम—ये उस व्यक्ति की वाणी बन जाते हैं। उस बहती गंगा में जिसको छलांग लगानी हो लगते हैं, पा लेते हैं। वहां निमग्न नहीं हो सकता है। वहां प्रयत्न-पूर्वक, हेतुपूर्वक देने का कर्म नहीं हो सकता—असंभव है।

### अध्यात्म आंतर यात्रा है

तीसरा मुद्दा यह है कि अध्यात्म आंतर यात्रा है, अपने भीतर जाना है। बाहर नहीं कुछ करना होता। मान लीजिए यहां से जाया है अमरनाथ या रुन्वाकुमारी। तो रास्ता पूछना पड़ता है कैसे जाए? कौन-

सी ट्रेन लें ? या विमान से कहां तक पहुंचा जा सकता है ? यहां देश व काल का सम्बन्ध आ गया। अतः वहां मार्ग-दर्शन आवश्यक है और उसकी संभावना भी है। जो गया होगा या किताबें देखी होंगी, वह आकर बतलाएगा कि यह मार्ग है यहां से जाइएगा, यहां गाड़ी बदलिआ— इत्यादि। कन्याकुमारी जाना है तो त्रिवेन्द्रम तक जाइएगा। फिर बस से, मोटर से, कार से जाइए। प्रमरनाथ जाना हो तो पहलगांव से जाते हैं, यह बतलाएगा। देश और काल में, दृश्य और व्यक्त में, ऐसे चिह्न हैं जो बदलते नहीं हैं, जिनको बताया जा सकता है। निर्देश हो सकता है। सबके लिए स्थिर हैं। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति ने अपने भीतर घटित होने वाली घटनाओं, जीवन में आने वाले आह्वानों और चुनौतियों तथा अपने भीतर भरे हुए संस्कारों से जो बन्धनों का ताना-बाना बुन रखा है वह प्रत्येक का अपना अद्वितीय ताना-बाना है।

एक व्यक्ति का जो बंधन है वह दूसरे व्यक्ति का बंधन नहीं है। भले ही एक मकान में रहने हों, पति-पत्नी ही बयों न हों, माता-पुत्र बयों न हों ! अपने मन के करघे पर बन्धनों का ताना-बाना बुनते रहते हैं। वह स्थिर नहीं है कि किसीको दिखाया जा सके और कोई प्राकर के हाथ पकड़कर उस बन्धन को तोड़ सके। हाथ-पांव में पहनी हुई कोई बेड़ी है क्या, जो व्यक्त हो, दृश्य हो, स्थिर हो, देश-काल में निदिष्ट हो सकती हो ? कोई घ्राए और उस बन्धन को तोड़ दे ? जीवन-भर बन्धन बनाने की क्रिया चलती रहती है। यह अघण्ट चलने वाली फैक्टरी है।

### संकेत और निर्देश

जो संकेत एक जगह है, जैसे त्रिवेन्द्रम उसी जगह है, वह हटता नहीं है। आज जाएं, पांच साल बाद जाएं, दस साल बाद जाएं। या पहलगांव अपनी जगह से उठकर श्रीनगर की जगह नहीं जा बैठता है। वहीं के वही हैं। इसलिए संकेत और निर्देश काम देते हैं। जहां एक-एक व्यक्ति अद्वितीय है, और अपने अद्वितीय बंधनों को बुनता चला जाता है, वहां आप सर्वसामान्य नियम बनाकर मार्गदर्शन कैसे करेंगे ?

अध्यात्म नितान्त व्यक्तिगत विषय है। प्रत्येक को आंतर यात्रा में से इसे खोजना पड़ता है कि मैं बंधन कहां बनाता हूँ, कैसे बनाता हूँ और क्यों बनाता हूँ? इसे वही व्यक्ति जान सकता है। और वह उस व्यक्ति के वश की बात है कि बंधन बनाने का व्यवसाय छोड़ दे। यह बंधन है, यह बांधता है, इस बोध से ही उसका यह व्यवसाय विसर्जित हो जाएगा। तो यह तो उसीको करना है न? दूसरा व्यक्ति तो उसके लिए नहीं कर सकता। कोई तंत्र का अभ्यास है कि शक्तिपात करें और आपसे तंत्र की साधना करा लें। कोई हठयोग का अभ्यास है कि कुंडलिनी संचालन करें और आपसे हठयोग का अभ्यास करा लें। हठयोग, तंत्र व मंत्र का अभ्यास—ये कोई अध्यात्म तो नहीं हैं। ये आत्मा की उपलब्धि के साधन नहीं हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए सत्य की खोज करना है। मेरा खाया हुआ भोजन जिस प्रकार मेरी वहन के काम नहीं आता। मेरी तुष्टि और पुष्टि वह देखेगी और समझेगी कि यह भोजन सम्यक् है। लेकिन मैं दूसरे किसीके लिए खा नहीं सकती हूँ, चाहे जितना प्यार मन में हो। उसी प्रकार दूसरे के लिए सत्य को पाया नहीं जा सकता है। इसमें लेन-देन नहीं है। इसमें सोदा नहीं है। इसमें चलन नहीं है कि ऋद्धियों-सिद्धियों की, अतीन्द्रिय शक्तियों की अशक्तियां हम दे दें और थोड़ी आत्मानुभूति हमको कोई दे दे। लेकिन यहां अनुभूति और जान का चलन भी नहीं चलता। इसलिए जिज्ञासा की जागृति हो, अभिमुखता की सदेह मूर्ति व्यक्ति बनता चला जाए, तो जीवन स्वयंमेव गुरु बनकर सिखाता चला जाता है। जहां नजर पड़ेगी, वहां जिज्ञासा के आलोक में देखते हैं, तो कुछ सीखने को मिलता है, और अभिमुखता की उत्कटता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे आगे का कदम रखने में, जिसका सहयोग मिलने वाला हो ऐसा व्यक्ति, ऐसा ग्रंथ, ऐसे किसीके वचन, ऐसी कोई घटना घटती ही रहती है। जो सत्य के अभिमुख हूंगा, वह अकेला कभी नहीं रहता। क्योंकि अनन्त व्यक्तियों ने पहले प्रयास किए हैं। बातावरण में आत्मा के अभिमुख और सत्य के अभिमुख बनने वालों की मदद करने वाले न जाने कितने प्रवाह वह रहे हैं जो

दीखते नहीं हैं हमें : अभिमुखता और जिज्ञासा उन प्रवाहों को खींच लेती है अपनी तरफ । जैसे चुम्बक की तरफ खींचा जाता है लोहे का टुकड़ा ।

पुरुषार्थ है जिज्ञासा और अभिमुखता तक । उसके बाद करना कुछ शेष नहीं है । मन की मर्शादाएं समझने में पुरुषार्थ है, और जहां वे समझने में आईं और मन मौन हो गया, वहां करने का विषय और क्षेत्र समाप्त हो गया । यदि कुछ करना शेष रह गया हो तो वह व्यक्ति के लिए नहीं, वह विश्वचेतना के लिए है, वह जीवन के लिए है । उसको प्रभु कहिए, चाहे जिस किसी नाम से पुकारिए । प्रभु कहिए, परमात्मा कहिए, विश्व-चेतना कहिए, जीवन कहिए, निसर्ग कहिए, ऊर्जा कहिए । जो शब्द आपके बोलता हो, वह लीजिए । जो शब्द अपना अंतरंग खोलकर आपके सामने रखना हो, वह लीजिए । शब्दों के बंध दरवाजों पर रकना नहीं है । उनके छिलकों पर नहीं रकना है ।

### मार्ग भीतर है

तो क्या इनमें मार्ग-दर्शन की आवश्यकता नहीं है ? मार्ग भीतर है । इसलिए दूसरा कोई मार्ग-दर्शन कैसे करेगा ? जो खाइयां हैं, जो पहाड़ियां हैं भीतर, जो गड्ढे हैं, जो मृगजल है वे मेरे मन के बनाए हुए हैं । इसलिए मैं ही उनको समझ सकूंगी कि कहां-कहां क्या-क्या बनाकर रखा है । दूसरे व्यक्ति को क्या ? और दूसरा व्यक्ति, मान लीजिए कि, समझता है, जिसकी चेतना से ग्रहंता का अंधकार मिट गया, जो मुक्त है, प्रेममय है । ऐसे व्यक्ति को दीखता भी हो, तो वह ऐसा आक्रमण का शील कहां से लावे कि दीखता है तो हाथ पकड़कर आपको बतलावे ? जितनी आपकी अभिमुखता है, उतना बोलने की प्रेरणा उस व्यक्ति को मिलेगी । क्योंकि अपनी प्रेरणा से बोला नहीं जाता । वहां हेतु नहीं, प्रयोजन नहीं । वह बोलने का कैसे ? बताएगा कैसे ? क्या बताएगा ? बताने में भी जो महत्ता आ जाती है, वह उसको, उसके प्रेम को सहन कैसे होगी ? अभिमुखता हो जाए, जिज्ञासा जागरित हो जाए, तब तो संपर्क में आने पर, उस आलोक में ही भीतर की जो ग्रथियां हैं









